

प्राणी मात्र के कल्याण तथा सामाजिक सद्भाव एवं सामरस्य की दृष्टि से दशलक्षण धर्म :

प्रो० महावीर सरन जैन

आत्मा का सहज स्वभाव ही उसका धर्म है। राग-द्वेष रहित आत्मा का सहज स्वभाव क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्किञ्चन्य और ब्रह्मचर्य हैं। धर्म के इन १० लक्षणों एवं अंगों की सामाजिक प्रासंगिकता भी है। ये सभी अहिंसा परम-धर्म के पोषक धर्म हैं। क्या अहिंसक व्यक्ति किसी पर क्रोध कर सकता है ? क्षमा उसका सहज स्वभाव हो जाता है। जिसके मन में सृष्टि के कण-कण के प्रति प्रेम एवं करुणा है क्या वह किसी पर क्रोध कर सकता है ? जो सभी जीवों पर मैत्रीभाव रखता है वह क्या किसी की हिंसा कर सकता है ? विश्लेषण पद्धति की दृष्टि से धर्म के सामान्य लक्षणों, अंगों, विधियों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-----

धर्मभाव = सद्गुणों का वरण ।

अधर्मभाव = दुर्गुणों में आसक्ति

१	क्षमा	क्रोध वैर द्वेष
२	मार्दवविनम्रताकरुणा एवं विनयशीलता	अहंकार गर्व मान मद
३	आर्जव निष्कपटता हृदय की शुद्धता आत्म संशोधन मन, वाणी एवं कर्म की एकरूपता, सामंजस्य एवं समरसता	माया कपटता कुटिलता मिथ्यात्व
४	सत्यसत्य-आचरण	झूठ बोलना दुर्वचन मिथ्या व्यवहार
५	शौच आत्मशुद्धि पवित्रता	लोभ बंधन मल भोगों में रत रहना ।
६	संयम अप्रमाद आत्म संयम	इन्द्रिय लोलुपता प्रमाद
७	तप मनोनिग्रह अन्तःकरण की पवित्रता	वासनायें कषाय कलमषताएँ
८	त्याग दान करना परिग्रहों का त्याग अनासक्ति	संग्रह तृष्णा आसक्ति
९	आर्किञ्चन्य अपरिग्रह वृत्ति	वस्तुओं के प्रति आसक्ति ममत्व एवं मन का अहंकार परिग्रह वृत्ति
१०	ब्रह्मचर्य कामवासना पर विजय कामभाव का संयमीकरण	कामाचारविषय वासनाओं में लीन होना इन्द्रियों की चंचलता

I. क्षमा

सामाजिक जीवन में राग के कारण लोभ एवं काम की तथा द्वेष के कारण क्रोध एवं बैर की वृत्तियों का संचार होता है। क्रोध के कारण संघर्ष एवं कलह का वातावरण बनता है। क्रोध में अहंकार एक उर्वरक का काम करता है। इस दृष्टि से क्रोध एवं अहंकार एक दूसरे के पूरक हैं। अहंकार से क्रोध उपजता है तथा क्रोध का अहंकार के कारण विकास होता है। क्रोधी मनुष्य तप्त लौह पिंड के समान अंदर ही अंदर दहकता एवं जलता रहता है। उसकी मानसिक शान्ति नष्ट हो जाती है। विवेकपूर्ण कार्य करने की स्थिति समाप्त हो जाती है। क्रोध के कारण कोई व्यक्ति दूसरे का उतना अहित नहीं कर पाता जितना अहित वह स्वयं अपना कर लेता है।

अहंकार से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने को सब कुछ समझने लगता है। वह यह समझता है कि उसके पास इतनी शक्ति है कि वह दूसरों को नष्ट कर सकता है। उसमें अपने आपको बड़ा मानने तथा दूसरों को अपने से छोटा समझने की चेतना विकसित होती है। वह सोचता है कि दूसरे व्यक्तियों का अस्तित्व और विकास उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह स्वामी है, दूसरे सेवक हैं। वह टुकड़े बाँटता है, दूसरे उसके टुकड़ों पर पलते हैं। इसी अहंकार के कारण वह समाज के सदस्यों से यह अपेक्षा करने लगता है कि सब उसके ही इशारों पर चलें, सब उसके स्वार्थ की सिद्धि में सहायक हों। जब कोई व्यक्ति स्वतन्त्र निर्णय लेकर अपनी मर्जी से चलना चाहता है अथवा उसके स्वार्थ की पूर्ति नहीं करता तो वह आहत हो उठता है और उसका क्रोध जाग जाता है।

क्रोध में विनय तथा समता की भावना नष्ट हो जाती है। समता की भावना का विकास होने पर अहंकार उत्पन्न नहीं होता तथा क्रोध का पौधा मुरझाने लगता है। इसका कारण यह है कि आत्मतुल्यता की चेतना से सम्पन्न व्यक्ति दूसरों के व्यवहार तथा आचरण से व्यक्तिगत-धरातल पर अशांति का अनुभव नहीं करता।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या क्रोध सर्वथा त्याज्य है? क्या समाज की व्यवस्था तोड़ने वाले व्यक्ति पर क्रोध नहीं करना चाहिए? व्यवस्था बनाये रखना वाले अधिकारी को क्या क्रोध नहीं करना चाहिए ?

अन्याय एवं अनाचार के प्रति आक्रोश करना एक बात है तथा अहंकार के कारण क्रोधित होना दूसरी बात है। समाज की व्यवस्था एवं नियम के विपरीत आचरण करने वाले व्यक्ति पर सामाजिक न्याय की भावना के कारण क्रोधित होने वाली मानसिकता, अहंकार की भावना से उत्पन्न क्रोध की मानसिकता से भिन्न होती है। अपने सामाजिक जीवन के दायित्व-बोध के आधार पर आचरण करने तथा क्रोध एवं

अहंकार के वशीभूत आचरण करने में अन्तर है। अहंकार से क्रोधित व्यक्ति जब किसी का विनाश करना चाहता है तब वह अपना विवेक खो देता है। जब कोई व्यक्ति सामाजिक भावना से प्रेरित होकर सामाजिक विकास में बाधक बनने वाले असामाजिक एवं दुष्ट व्यक्तियों का दमन करता है तो वह अपने विवेक को कायम रखता है। वह दुष्ट व्यक्तियों का दमन इसलिए करता है जिससे सामाजिक व्यवस्था कायम रह सके। उसके मन में दुष्ट व्यक्ति को सुधारने का संकल्प होता है, उसके अस्तित्व को मिटा देने का नहीं। वह प्रतिकार इसलिए नहीं करता क्योंकि किसी के द्वारा उसका अपमान हुआ है, अपितु उसके ही सुधार एवं कल्याण के लिए वह सामाजिक दृष्टि से अन्याय करने वाले व्यक्ति का प्रतिरोध करता है।

क्रोध के अभ्यास से व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है। क्रोध से अन्धा व्यक्ति सत्य, शील एवं विनय का विनाश कर डालता है। किसी ने उसका अहित किया है या कोई उसका अहित करना चाहता है इसके अनुमान मात्र के आधार पर वह तत्क्षण क्रोधित हो जाता है। इस प्रकार सोच समझकर कार्य करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इसके कारण द्वेष भाव का विकास एवं विस्तार होता है। सम्पूर्ण जगत को वह अपना शत्रु समझने लगता है। उसके जीवन दर्शन विध्वंसात्मक हो जाता है। संघर्ष, तोड़-फोड़, विनाश, हत्या आदि उसका जीवन की प्रवृत्तियाँ हो जाती हैं। इस प्रकार जब क्रोध का विकास होता है, विस्तार होता है तो व्यक्ति की सम्पूर्ण मानवीयता एवं सामाजिकता नष्ट हो जाती है। इस स्थिति पर यदि नियन्त्रण नहीं हो पाता तो उसके अपराधी बन जाने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

गीता में कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि क्रोध से अविवेक एवं मोह होता है, मोह से स्मृति का भ्रम होता है तथा बुद्धि के नाश हो जाने से आदमी कहीं का नहीं रह जाता :

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं, अन्याय का प्रतिकार करने के लिए बार-बार कहते हैं किन्तु दूसरी तरफ युद्ध में कूद जाने की प्रेरणा देनेवाले श्रीकृष्ण क्रोध से बचने के लिए सर्वत्र सावधान करते हैं। गहराई से विचार करने पर इस प्रतीयमान अंतर्विरोध का रहस्य इस तथ्य में निहित है कि लोकमंगल की साधना के लिए अन्याय का प्रतिकार करने तथा क्रोधित होकर दूसरे का नाश करने के लिए तत्पर होने में बहुत अन्तर है।

क्रोध का विरोधी भाव क्षमा है। क्षमा, 'क्षम' धातु से बना है। इसके दो मुख्य अर्थ हैं। एक अर्थ में क्षमा का अर्थ है धैर्य, सहनशीलता एवं विनम्रता। दूसरे अर्थ में क्षमा सामर्थ्यवाचक है- सहने योग्य होना अर्थात् पर्याप्त सक्षम होना।

क्षमाशील व्यक्ति धैर्यवान होता है, विनम्र होता है एवं अत्यन्त सहनशील होता है। क्षमा कायरता नहीं है। क्षमाशील व्यक्ति समर्थ एवं सक्षम होता है। दुःख पहुँचाने वाले व्यक्ति को वह प्रताड़ित कर सकता है, किन्तु अपनी क्षमावृत्ति के कारण वह उस दुःख को सहन करता है, विनम्र रहता है। वह क्रोध को शान्ति के साथ जीतता है। "ऐसा व्यक्ति कम्प रहित होकर क्रोधादि कषाय को नष्ट कर देता है - "विगिंच कोहं अविक्रमाणे'

सामाजिक जीवन में हम कभी-कभी अज्ञानवश यह समझ बैठते हैं कि अमुक व्यक्ति के कारण हमारा अहित हुआ है। यदि हम क्रोधी नहीं, धैर्यवान होते हैं तथा शान्ति के साथ विवेकपूर्वक स्थितियों का विश्लेषण करते हैं तो बहुत सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। हमारी असफलता का कारण अनेक बार हमारी अपनी ही कमजोरी होती है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी कारणवश या अकारण ही हमारा अहित कर भी दिया है तो हमें पहले पूरी परिस्थितियों से परिचित होना चाहिए तथा हमको उस व्यक्ति के साथ धैर्यपूर्वक बातें करनी चाहिए। अपना पक्ष उसके सामने प्रस्तुत कर उसके पक्ष एवं दृष्टि से अवगत होना चाहिए। ऐसा करने पर वह व्यक्ति या तो आत्मग्लानि का अनुभव करता है अथवा उन परिस्थितियों को स्पष्ट कर देता है जिसके कारण उसने हमारा अहित किया।

क्षमा का पालने करने वाला व्यक्ति यदि कभी अन्याय का विरोध करता भी है तो भी उसका मार्ग क्रोध का मार्ग नहीं होता। अपने मन में इसी कारण वह किसी के प्रति कभी बैर नहीं बाँधता। इस प्रकार यदि उसे दुष्टता एवं अन्याय का प्रतिरोध करना पड़ता है तो भी उसके मन में किसी के प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न नहीं होता। यदि कभी कहीं शत्रुभाव उत्पन्न हो भी जाता है तो भी वह अपनी क्षमा वृत्ति के कारण उस भाव का शमन कर लेता है। इसी कारण गौतम बुद्ध ने कहा, "उसने मुझे गाली दी, उसने मुझे मारा, उसने मुझे हराया, उसने मुझे लूटा, इस प्रकार की बातों को जो व्यक्ति गाँठ बाँधकर नहीं रखते उनका बैर शान्त हो जाता है-

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।

ये तं न उपनयन्ति वेरं तेसूपसम्मति ।।

इस प्रकार क्रोध मन की गाँठों को बाँधता है, प्रतिकार की भावना, कठोरता, दयाहीनता एवं हिंसा आदि प्रवृत्तियों को विकसित करता है। क्षमा मन की गाँठों को खोलती है तथा दया, सहानुभूति, सन्तोष, उदारता, प्रेम, मानशून्यता एवं वैराग्य की प्रवृत्तियों को विकसित करती है। सहनशक्ति क्षमा की धुरी है। आधुनिक युग में भारत में अरविन्द ने इसका आख्यान किया तथा गांधीजी ने सामाजिक जीवन में इसका प्रयोग किया। अरविन्द ने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन के सन्दर्भ में कहा-"दमन की वेदनाओं को सहन करो।' अहिंसा की शक्ति का प्रतिपादन करते हुए महात्मा गांधी ने कहा कि सच्ची

अहिंसा भय से नहीं, प्रेम से जन्म लेती है, निःसहायता से नहीं, सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नहीं, द्वेष नहीं, निःसहायता का भाव नहीं, उसके समक्ष बड़ी से बड़ी शक्तियों को भी झुकना पड़ेगा।

क्षमा की कई कोटियाँ, अनेक रूप एवं प्रकार हैं। "उत्तम क्षमा" मन की सहज प्रवृत्ति है। जब हम व्यक्तिगत रागद्वेष की सीमाओं से ऊपर उठ जाते हैं तथा संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव एवं आत्म-तुल्यता की प्रतीति करने लगते हैं तो क्षमा का भाव हमारे जीवन का सहज अंग बन जाता है। मध्य कोटि की क्षमा वह होती है जहाँ हम आत्मतुल्यता की भावना से प्रेरित होकर नहीं अपितु उपेक्षा-भाव से प्रेरित होकर दूसरों को क्षमा करते हैं। जब हम मन की सहज भावना से नहीं अपितु किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर अथवा भय की भावना के कारण क्षमा का प्रदर्शन करते हैं अथवा क्रोधित नहीं होते तो इस प्रकार की क्षमा अधम कोटि की क्षमा है।

हमें यह प्रयास करना होगा जिससे क्षमा की वृत्ति हमारी मानसिकता का एक अभिन्न अंग बन सके। क्षमा वृत्ति के विकास में जैन दर्शन की प्रासंगिकता उल्लेखनीय है। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, उसके गुण और पर्याय भी स्वतन्त्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुणों एवं पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों के साथ कोई अभिन्न सम्बन्ध नहीं है। प्राणीमात्र आत्मतुल्य है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं। अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। प्रत्येक जीव अपने ही कारण से संसारी बना है और अपने ही कारण से मुक्त होगा। आत्मा अपने स्वयं के उपार्जित कर्मों से बँधती है। आत्मा का दुःख स्वकृत है। व्यक्ति अपने ही प्रयास से उच्चतम विकास भी कर सकता है। आत्मा सर्व कर्मों का नाश कर सिद्ध पद प्राप्त करने की क्षमता रखती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने ही बल पर उच्चतम विकास कर सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने बल पर परमात्मा बन सकती है। अपने विकास में तत्त्वतः कोई दूसरा बाधक नहीं हो सकता। हमारे कर्म ही इसके लिए उत्तरदायी हैं। इस प्रकार के बोध एवं ज्ञान के कारण हमारे मन में प्रत्येक प्राणी के प्रति क्षमा का भाव सहज ही विकसित हो जाता है।

सामाजिक जीवन के लिए क्षमावृत्ति अनिवार्य है। क्रोध से क्रोध उपजता है। यह चक्र सामाजिक सापेक्षता की भावना को समाप्त कर देता है। सामाजिक सद्भाव एवं पारस्परिक बन्धुत्व की भावना के लिए क्षमावृत्ति अनिवार्य है। इससे व्यक्ति धार्मिक बनता है, शान्त-चित एवं विवेकशील होकर विचार करने एवं कार्य करने में समर्थ होता है। क्षमा याचना के आधार पर वह समाज के अन्य सदस्यों के प्रति अपनी प्रेम-भावना का विकास करता है, उसके जीवन में आस्था और विश्वास का संचार होता है, आत्मतुल्यता की दृष्टि का विस्तार होता है।

II. मार्दव

"क्षमा" के परिपाक एवं विकास के लिए "मार्दव" का महत्व है। किसी पर क्रोध न करना ही पर्याप्त नहीं है। सामाजिक व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि वह "अहंकार" का परित्याग कर, दूसरों के प्रति विनम्रता के साथ मृदुता का आचरण करे।

अहंकारहीन एवं मृदुव्यवहारवाले व्यक्ति के चित्त में क्रोध भाव उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ क्षीण होती जाती हैं।

समाज के एक कार्यकारी सदस्य के रूप में व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह भद्र एवं सभ्य व्यक्ति के रूप में व्यवहार करे, अहंकार का त्याग कर मृदुता का व्यवहार करे जिससे दूसरों के मन को पीड़ा न पहुँचे।

व्यक्ति को समाजनिरपेक्ष स्थिति में व्यक्तिगत साधना के धरातल पर भी अपने अहंकार का विसर्जन करना होता है। हृदय की कठोरता एवं क्रूरता को छोड़े बिना व्यक्ति का चित्त धार्मिक नहीं हो सकता। कारण यह है कि अध्यात्म-यात्रा की सबसे बड़ी रुकावट "मैं" की है। भगवान महावीर ने कहा है कि जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

"मार्दव" की कई अर्थ छायाएँ एवं स्तर हैं। एक दृष्टि से मार्दव का अर्थ है- मृदु, शिष्ट एवं विनम्र व्यवहार। इसके आगे जाकर मार्दव का अर्थ होता है- कठोरता का पूर्ण विसर्जन। इसके भी आगे जाकर "मार्दव" से व्यक्ति के अन्तःकरण के उस गुण का बोध होता है जिसमें वह किसी भी प्राणी के दुःख को देखकर सहजरूप से करुणा से अभिभूत हो जाता है, प्रत्येक प्राणी को वह आत्मतुल्य एवं समभाव की दृष्टि से देखने का अभ्यस्त हो जाता है, उसका मन करुणा से आपूरित रहता है।

व्यक्ति के मनोभाव की दृष्टि से मृदुता के दो प्रकार हैं :

- (१) प्रतीयमान मृदुता
- (२) यथार्थ मृदुता

"प्रतीयमान मृदुता" का पालने करने वाला व्यक्ति बाह्य दृष्टि से विनम्र एवं शिष्ट होता है, किन्तु उसका "अन्तर्मन" मार्दव से अप्रभावित रहता है। बाह्य दृष्टि से आवश्यकता से अधिक विनम्र होने पर भी व्यक्ति अन्तर्मन की दमित वासनाओं का शिकार हो सकता है। उसके अचेतन मन का अहंकार ही विनय के रूप में प्रदर्शित हो सकता है। जब समाज में इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाती है तो

अनुराग एवं विश्वास द्योतक शब्दों के अर्थ बदलने लगते हैं। ऐसा सम्भव है कि बाह्य स्तर पर कोई हमसे मित्रता व्यक्त करे किन्तु अन्दर से अहंकार के वशीभूत अथवा स्वार्थसिद्धि हेतु हमारे विनाश की योजना बनाए इस प्रकार के व्यक्ति के आचरण का वास्तविक रहस्य जब खुल जाता है, तो उसके प्रति विश्वास समाप्त हो जाता है।

"यथार्थ मृदुता" का जो व्यक्ति अभ्यास करता है उसका अन्तर्मन मार्दव से भावित होता है। उसके जीवन में विनयशीलता, निरभिमानता एवं उदारता का क्रमशः विकास होता है। अन्ततः उसके चित्त में मैत्री का अजस्र स्रोत प्रवाहित होने लगता है।

मार्दव के विरोधी-भाव अहंकार, गर्व, मद, कठोरता हैं। मार्दव की विपरीत स्थिति मन, वचन, क्रिया की कठोरता है। "अहंकार" अधर्म का मार्ग है। इससे हम आत्म-चेतना से दूर होते जाते हैं। बाह्य पदार्थों में हमारी आसक्ति एवं अनुरक्ति बढ़ती जाती है। "गर्व" के कारण मन में अपने अहंकार के प्रति "मान" होता है। "मान" विनय का विनाश कर डालता है। "मद" में हम विवेक खो देते हैं। सोचने-समझने की शक्ति समाप्त हो जाती है। मन की सारी कोमलता नष्ट हो जाती है। हमारा वचन ही नहीं, मन एवं कर्म भी कुटिल हो जाते हैं।

लोक में आठ प्रकार के मद प्रसिद्ध हैं- (१) शरीर, (२) धन, (३) बल (४) कुल, (५) जाति, (६) ज्ञान, (७) चारित्र्य (८) तप।

जो व्यक्ति इन आठों प्रकार का किंचित् भी "मद" नहीं करता वही उत्तम मार्दव का पालन करता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अपने चरित्र एवं तप का मद भी बहुत भयावह होता है। आधुनिक मानेविज्ञान इस बात को स्वीकार करता है। अहंकार होने पर "सुपरइगो" प्रकृत-प्रवृत्तियों का दमन करके आत्मभर्त्सना का रूप ग्रहण कर लेता है और अवांछित प्रवृत्तियों का निराकरण नहीं हो पाता। फलस्वरूप चेतन मन का संघर्ष अचेतन मन में होने लगता है। मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण नहीं हो पाता। चेतन मन अचेतन मन के आवेगों का अनुभव नहीं कर पाता। मद एवं अहंकार के दूर होने पर ही दमित मानसिक-शक्ति चेतना की सतह पर लायी जा सकती है तथा चेतन मन के धरातल पर आत्म-नियन्त्रण किया जा सकता है।

अहंकार एवं मान से कषायों का जन्म होता है। राग-द्वेष का संचार होता है। अहंकार को चोट लगने पर मन में क्रोध, ईर्ष्या, क्रूरता उत्पन्न होते हैं। विनम्रता एवं मृदुता से कषायों का नाश होता है। जीवन में ऋजुता आती है। जब "अहंकार" विगलित होने लगता है तो मन की पाषाण जैसी कठोरता चूर-चूर होकर कोमल सिकता कणों में परिणत होने लगती है। विनम्रता एवं करुणा के शीतल जल-प्रवाह द्वारा मन का ताप मिट जाता है, मानवीय प्रवृत्तियों का विकास होता है। यदि कोई उसे दुःख पहुँचाता है

तो भी चित्ता की विनम्रता एवं करुणा उसे क्षमा कर देती है। जब अहंकार की परतें हटने लगती हैं तो कषायों के बन्धन खुलने लगते हैं। इस प्रकार 'मार्दव' जहाँ 'क्षमा' के विकास एवं परिपाक में सहायक है वहीं 'आर्जव' के विकास एवं परिपाक में भी सहायक है।

जब तक अहंकार रहता है, व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का अपेक्षित विकास नहीं कर सकता। अहंकार के कारण उसके विकास की गति धीमी पड़ जाती है। वह गर्व में डूब जाता है। मद के कारण वह यह भूल जाता है कि उसकी मंजिल अभी दूर है।

तत्त्वतः बन्ध और मोक्ष अपने ही भीतर हैं। आत्मस्वरूप को पहचानने के लिए 'मैं' को गलाना पड़ता है। जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध से शाखाएँ और शाखाओं से प्रशाखाएँ निकलती हैं, प्रशाखाओं से पत्तों पैदा होते हैं और इसके पश्चात् क्रमशः फल-फूल और रस उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष का मूल 'विनय' है और मोक्ष उसका फल है। अहंकार के आवरण को हटाये बिना अमृत-तत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा:

भंते, मृदुता से क्या होता है ?

भगवान ने कहा- 'मृदुता' से अपने आपको दूसरों से अतिरिक्त, दूसरों से विशिष्ट मानने की भावना नष्ट हो जाती है।

इसी कारण समस्त जीवों पर मैत्री भाव रखने एवं समस्त संसार के जीवों को समभाव से देखने की दृष्टि 'मृदुता' से विकसित होती है।

तप एवं त्याग के बावजूद यदि व्यक्ति के चित्त में अहंकार एवं मान शेष रह जाता है तो उसकी सारी साधना निष्फल हो जाती है।

मृदुता से उदारता, सहिष्णुता एवं दृष्टि की उन्मुक्तता का विकास होता है। सत्यानुसंधान के लिए यह बहुत आवश्यक है। अहंकार से आग्रह जन्म लेता है, उदारता से अनाग्रह। अनाग्रह की चेतना ही अनेकांतवादी जीवन-दृष्टि प्रदान करती है।

'अहंकार' के कारण पारिवारिक जीवन में अशान्ति उत्पन्न होती है, सामाजिक जीवन में संघर्ष उत्पन्न होता है एवं राजनैतिक जीवन में पराजय प्राप्त होती है। पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के विकास के लिए सभी सदस्यों में परस्पर प्रेम भाव, दूसरों के अस्तित्व की स्वीकृति तथा एक सदस्य का अन्यो के प्रति करुणा एवं मैत्रीभाव का होना आवश्यक है। 'मार्दव' से उपर्युक्त गुणों का विकास होता है। व्यक्ति के हृदय में दूसरों को आत्मतुल्य मानने का भाव उत्पन्न होता है। दूसरों के विचारों एवं कार्यों के प्रति उसके मन में अनाग्रह, सहिष्णुता एवं उदारता उत्पन्न होती है तथा अन्ततः सहन शक्ति का विकास होता है। यदि व्यक्ति अहंकार नहीं छोड़ता तो परिवार के अन्य सदस्यों की उपेक्षा का पात्र बन जाता है।

समाज उसके प्रति अरुचि, उपेक्षा एवं अन्ततः घृणा करने लगता है। मार्दव गुण सामाजिक प्राणी का सर्वप्रथम सकारात्मक गुण है। हमें यह प्रयास तो करना ही चाहिए कि हमारे व्यवहार से किसी को पीड़ा न हो। हमारे पास जो है-उसे किसी को दे सकने की स्थिति में न हों तो कम से कम इतना सामाजिक दायित्व बोध तो हममें होना ही चाहिए कि हम अपने व्यवहार से दूसरों पर चोट न करें। हमारा मृदु एवं विनम्र आचरण दूसरों को हमारी तरफ आकर्षित करता है। हमारा सामाजिक दायरा विस्तृत होता है। व्यक्ति समाज के अन्य सदस्यों से संघर्ष एवं कलह की स्थितियों को सर्वथा समाप्त नहीं कर सकता तो उन्हें कम अवश्य कर सकता है। संघर्ष के भयावह एवं वीभत्स वातावरण को नष्ट कर सकता है। अन्य सदस्यों से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर, परस्पर सौहार्द एवं प्रेम का वातावरण निर्मित कर, सामाजिक शान्ति की स्थापना में सहयोग प्रदान कर सकता है।

राजनैतिक जीवन में भी मार्दव गुण का बहुत महत्व है। लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में नेतृत्व के लिए यह आवश्यक है कि वह मार्दव गुण का पालन करे, सत्ताप्राप्ति के पश्चात् भी सत्ता के मद से दूर रहे। यदि जनप्रतिनिधि ऐसा नहीं कर पाता तो उसके एवं जनता के बीच दूरी बढ़ जाती है। इस दृष्टि से महाकाव्य "कामायनी" में वर्णित संघर्ष सर्ग की कथा अत्यन्त प्रेरक है। "मनु" सारस्वत प्रदेश के राजा बनकर अपने बनाये हुए नियमों से शासन संचालित करते हैं, किन्तु स्वयं उन नियमों का पालन नहीं करना चाहते। वे स्वयं स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने का प्रयास करते हैं। इडा उन्हें समझाती है कि नियामक को भी नियमों के अनुरूप आचरण करना चाहिए। संसार की ताल में, विश्व की लय में, समाज के बन्धन में सम होना चाहिए। इससे संगीत की लय नहीं बिगड़ती, जीवन की समरसता में विषमता उत्पन्न नहीं होती। अहंकारी मनु पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रजापति इडा को प्राप्त करने के लिए वे समस्त बन्धनों एवं नियन्त्रणों को तोड़ने का प्रयास करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रजाजन विद्रोह कर देते हैं। संघर्ष होता है। मनु क्रूरता के साथ अपने खड्ग से प्रजाजनों को कुचलकर आगे बढ़ना चाहते हैं। भीषण जन-संहार होता है। रक्तोन्मत मनु का हाथ रुक नहीं पाता। उधर प्रजा का साहस भी नहीं थमता। इसका समापन मनु की पराजय में होता है और वे मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं।

इस कथा से हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार अहंकार में व्यक्ति असंयमी एवं क्रोधी हो जाता है, जिससे वह सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से पराजित हो जाता है।

आधुनिक जीवन में मार्दव गुण के अभाव के कारण सामाजिक जीवन में परस्पर संघर्ष एवं तनाव का वातावरण पनप रहा है। अहंकार की भावना के कारण अपने को सर्वोच्च, शक्तिमान एवं श्रेष्ठ तथा दूसरों को अपने से निम्न, दुर्बल एवं हीन मानने के कारण साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, जातीय संघर्ष होते

हैं, वर्णगत विभेद बढ़ता है। 'धर्म' व्यक्ति को समभाव सिखाता है। अपने धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर; धर्म के ठेकेदार साम्प्रदायिक दंगे करवाने में सफल हो जाते हैं।

"मार्दव' की वृत्ति के विकास से समाज के सभी सदस्यों में परस्पर अनुराग एवं मैत्री सम्भव है। आत्मतुल्यता की दृष्टि विकसित होने पर सभी आत्माओं की स्वरूप की दृष्टि से समानता एवं प्रत्येक आत्मा की अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्रता की मान्यता का विकास होने पर समाज में ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा, गोरा-काला आदि के आधार पर बनी हुई विभेदकारी रेखाएँ स्वतः मिट जायेंगी।

"मृदुता' का अर्थ आत्म-पराजय अथवा हीनता-बोध नहीं है। इसका भावार्थ आत्मिक दृढ़ता है, अपनी आत्मा की स्वीकृति का भाव है तथा अपनी ही जैसी सभी जीवों की आत्माओं के प्रति आत्मतुल्यता की भाव-प्रतीति है। यह स्वीकृति एवं प्रतीति व्यक्ति की चिन्तन-दृष्टि को उन्मुक्त बनाती है, आग्रहों से लिपटे दायरों को समाप्त कर सतत जागरूकता प्रदान करती है। 'मैं' का आवरण हटा आत्मानुसंधान के रहस्य द्वार को खोलती है तथा सृष्टि के प्राणियों के प्रति मैत्री एवं अपनत्व की भावना उत्पन्न करती है।

III. आर्जव

मार्दव से आर्जव का परिपाक होता है। विनम्रता से सरलता आती है तथा सरलता से निष्कपटता की वृत्ति विकसित होती है। सरलता से अपने दोषों की आलोचना करनेवाला व्यक्ति माया एवं मद से मुक्त हो जाता है।

आर्जव के विरोधी भाव माया, छल, कपट एवं कुटिलता हैं। जिस व्यक्ति के हृदय में कपट एवं कुटिलता होती है उसकी दृष्टि आविष्ट, आविल एवं मलिन होती है। उसका जीवन कृत्रिम एवं असामाजिक बन जाता है।

माया के कारण वह यह नहीं समझ पाता कि ऋजु क्या है और कृत्रिम क्या है; कपट क्या है और निष्कपट क्या है? इस कारण माया से सद्गति का प्रतिघात होता है। छल एवं कपट से दुर्गुणों को प्रश्रय मिलता है। हमारा व्यक्तित्व कुंठाग्रस्त हो जाता है। छल एवं कपट का जिस व्यक्ति के जीवन में जितना प्राबल्य होगा उसके चेतन एवं अचेतन मन की भावना का अन्तर उतना ही अधिक होगा। ऐसे व्यक्ति की स्मरण-शक्ति, कल्पना, चित्ता की एकाग्रता एवं इच्छाशक्ति दुर्बल होती जाती हैं। मानसिक ग्रन्थियाँ दृढ़तर होती जाती हैं। उसमें न तो चरित्र बल रह जाता है और न व्यक्तित्व की पवित्रता। कपट के कारण व्यक्ति खुल नहीं पाता, अचेतन मन की खोज करके प्रत्येक प्रकार के द्वन्द्व को चेतना की सतह पर नहीं ला पाता। उसके अचेतन मन में जो भाव एवं विचार एकत्र होते हैं वे उसके व्यक्तित्व को विभाजित कर देते हैं।

दुःखों की जड़ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारे ही मन में है। ग्रन्थियों के कारण हम अन्तर्मन की खोज नहीं कर पाते तथा दुःख का कारण सदा बाह्य वातावरण में खोजते रहते हैं। सत्य जानने का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। अंधेरी कोठरी में बन्द व्यक्ति अपने से ही लड़ता रहता है। मानसिक संघर्ष के कारण बाहरी जगत में संघर्षात्मक स्थितियाँ उत्पन्न कर लेता है। अहंकार मन के कपट को बढ़ा देता है। ऐसी स्थिति में मानसिक बेचैनी, अकारण चिन्ता, भय, कल्पित शारीरिक रोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

इन मानसिक रोगों से बचने के लिए निष्कपट होना होता है। निष्कपटता से मनुष्य का आन्तरिक संघर्ष चेतना की सतह पर आ जाता है। जो वासना, स्मृति एवं विचार दमित अवस्था में अचेतन मन में रहते हैं, वे चेतन मन के धरातल पर आ जाते हैं। इस प्रकार के प्रकाशन से अचेतन मन की ग्रंथियाँ ऋजु होकर शक्तिहीन हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति चेतन मन के धरातल पर स्वतः के प्रयत्न द्वारा सप्रयास आत्मनियन्त्रण कर सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति कपट के कारण अपना प्रकृत स्वभाव भूल जाता है। राग-द्वेष तथा इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीव मन, वचन एवं शरीर से कर्म संचय करता है। मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद एवं कषायों के कारण कर्मों का आस्रव होता है।

कर्म या माया के कारण आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो जाता है। इस तथ्य को प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा (जीव) के साथ जैन दर्शन में पौद्गलिक कर्मों का, बौद्ध दर्शन में तृष्णा का, वेदान्त दर्शन में माया का, कपिल-पतंजलि के सांख्य-योग दर्शन में प्रकृति का संयोग माना गया है। कपट एवं कुटिलता के कारण बन्धन की ग्रन्थियाँ जुड़ती जाती हैं। 'आर्जव' का पालन करने पर इन ग्रंथियों की जकड़न दूर हो जाती है, गाँटे ऋजु हो जाती हैं। हृदय सरल, स्पष्ट, निष्कपट हो जाता है। इसी के पश्चात् हृदय शुद्ध होता है। आत्म-संशोधन होता है, जहाँ धर्म ठहर सकता है। इसी कारण भगवान् महावीर से जब प्रश्न किया गया कि हृदय को पवित्र एवं शुद्ध किस प्रकार बनाया जा सकता है तो उन्होंने उत्तर दिया कि ऋजुता से हृदय को पवित्र किया जा सकता है- "माया विजएणं अज्जवं जणयइ (माया को जीत लेने से ऋजुता प्राप्त होती है)।"

गीता में भी आर्जव को साधना का एक प्रधान अंग माना गया है तथा इस शब्द का प्रयोग "मन वाणी की सरलता" के अर्थ में किया गया है। अर्जुन को ज्ञान के साधनों के बारे में बताते हुए भगवान् कृष्ण ने श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, अहिंसा तथा क्षमा के बाद "आर्जव" को स्थान दिया है।

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्"।

कपट का परित्याग करके ही व्यक्ति सत्य की साधना कर सकता है तथा अन्तःकरण की शुद्धि कर सकता है। इस कारण 'सत्य' एवं 'शौच' के पालन के लिए 'आर्जव' भूमिका का निर्माण करता है।

स्वस्थ शरीर, शुद्ध मन तथा आत्मानुसंधान के अतिरिक्त सामाजिक विश्वास का वातावरण बनाने की दृष्टि से भी आर्जव का महत्व है।

कुटिलता के कारण पारिवारिक जीवन में अविश्वास उत्पन्न होता है। सामाजिक जीवन में छल, छद्म एवं विश्वासघात की वृत्तियाँ पनपती हैं, राजनैतिक जीवन कुटिलता का पर्याय बन जाता है। पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के विकास के लिए तथा परस्पर मैत्री भाव के लिए जिस प्रकार मार्दव गुण आवश्यक है, उसी प्रकार आर्जव गुण भी आवश्यक है। मार्दव गुण के कारण अहंकार समाप्त होता है तथा मन, वचन एवं क्रिया की दुष्टता दूर होती है। आर्जव गुण के कारण छल, कपट, कुटिलता दूर होती है तथा मन, वचन, एवं क्रिया की एकरूपता स्थापित होती है। मार्दव गुण के कारण व्यक्ति परिवार और समाज के अन्य सदस्यों के अस्तित्व की स्वीकृति प्रदान करता है। आर्जव गुण के कारण मैत्री भाव की आधारभूमि बनती है। मित्रता का आधार है- परस्पर निष्कपटता, स्पष्टवादिता तथा ईमानदारी। मित्रों के बीच कोई दुराव-छिपाव नहीं होता। माया के विषय में भगवान महावीर ने कहा है कि माया मित्रता को नष्ट कर देती है (माया मित्ताणि नासेइ)। पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में परस्पर मैत्रीभाव उत्पन्न करने के लिए आर्जव गुण के सतत अभ्यास की आवश्यकता असंदिग्ध है। मार्दव के कारण हम दूसरों को अपनी विनम्रता से अपनी ओर आकर्षित करते हैं तथा आर्जव गुण के कारण सच्चे एवं सरल हृदय से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी कारण गौतम बुद्ध ने कहा कि जिस प्रकार कुशल बढ़ई लकड़ी को सीधा करके उससे सुन्दर खिलौने और विशाल भवन तैयार करता है, वैसे ही साधक अपने आपको सरल एवं सीधा बनाता है।

राजनीति के क्षेत्र में छल और कपट बढ़ रहा है। राजनीति को तात्कालिक स्वार्थसिद्धि एवं सत्ता प्राप्ति के कौशल के रूप में परिभाषित किया जा रहा है। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि राजनीतिज्ञों के जीवन में परस्पर अविश्वास, अपवित्रता एवं कुटिलता बढ़ती जा रही है। उनके प्रति आस्था की भावना घट रही है। राजनैतिक जीवन की सफलता एवं स्थायित्व के लिए जनता के मन में यह विश्वास होना चाहिए कि उनका प्रतिनिधि जो कह रहा है वही करेगा। जो राजनीतिज्ञ जनता का विश्वास खो देता है, उसका राजनैतिक जीवन समाप्त हो जाता है। वह अपने त्याग एवं जनसेवा के संकल्प की लाख दुहाई दे, किन्तु फिर भी जनता का बहुमत उसके कथन का या तो विश्वास नहीं करता अथवा उसके प्रत्येक क्रियाकलाप को संशय एवं सन्देह की दृष्टि से देखता है। इसके विपरीत जो राजनीतिज्ञ अपनी निष्कपटता एवं ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हो जाते हैं, वे यदि एक शब्द भी बोलते हैं तो उसका

जनमानस पर प्रभाव पड़ता है। उनकी बात पर विश्वास किया जाता है। राजनैतिक जीवन में भी स्थायी सफलता तथा लोक-विश्वास प्राप्त करने के लिए आर्जव गुण का महत्व है।

आधुनिक जीवन में आर्जव गुण की कमी के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दुराव-छिपाव का वातावरण पनप रहा है। परस्पर अविश्वास एवं अनास्था से जीवन में विश्वासहीनता, उद्वेग, उत्पीड़न तथा भटकन बढ़ रही है। भरी-भीड़ में व्यक्ति अकेला होता जा रहा है। जीवन में संत्रास और निराशा की भावना बढ़ रही है। भौतिक साधनों की दृष्टि से हम आज अधिक सम्पन्न हैं। सुख के साधन प्रचुर हैं। मन की कुटिलता के कारण ही अनावश्यक मानसिक तनाव तथा परस्पर अविश्वास से उत्पन्न विश्वासघात की भावना बढ़ रही है। व्यक्ति अपने ऊपर, अनेक प्रकार के मिथ्या आडम्बर लाद रहा है। प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ रही है। वह मानसिक विकारों का शिकार तथा उत्तारोत्तार "एँबनार्मल" बनता जा रहा है। अपने मन की परतों को न खोल सकने के कारण वह मानसिक तनावों में जी रहा है। कपटता के कारण परस्पर के मैत्री सम्बन्ध नष्ट होते जा रहे हैं। दूसरों को धोखा देने की, टगने की, ऊपर से मित्र एवं हितेषी बनकर अन्दर विरोध एवं घात करने की समाजिक वृत्तियों के कारण हमारा जीवन भयावह हो उठा है। इनके समाधान का जो रास्ता पाश्चात्य विचारकों ने निकाला है, वह व्यक्ति को और अधिक भटका रहा है। साम्यवादी विचारधारा के कारण वर्ग संघर्ष की प्रेरणा तो मिली किन्तु मानव जाति में परस्पर अनुराग की भावना का पोषण नहीं हुआ। इसी प्रकार अस्तित्ववादी-दर्शन चेतनाओं में पारस्परिक सम्बन्धों की आधार-भूमि सामंजस्य को नहीं अपितु विरोध को मानता है। वह यह स्वीकार करता है कि एक व्यक्ति के अस्तित्व वृत्ता तथा अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व-वृत्तों के मध्य संघर्ष है।

बिना सामाजिक प्रेम, विश्वास एवं बन्धुत्व के व्यक्ति का जीवन सुखी नहीं बन सकता। इस कारण समाज में परस्पर मैत्रीभाव का होना आवश्यक है।

भोगवादी विचारधारा इन्द्रियों की तृप्ति में ही सुख मानती है। इन्द्रियों के सुख को ही जीवन का लक्ष्य मानती है। जैन दर्शन इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। इसका कारण यह है कि इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। कामनाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं। मिथ्या आवरणों को हटाने पर ही प्रकृत स्वभाव का दर्शन सम्भव है। इसलिए हमारा सारा प्रयास यह होना चाहिए कि हमारी चेतना के ऊपर कपट, बेईमानी एवं मिथ्या आडम्बरों की जो अनेक तहें जम गयी हैं, उनको आर्जव के द्वारा हटा सकें। ऐसा करने पर हमारा जीवन सरल बन सकेगा। हम तनावों से मुक्त हो सकेंगे।

आर्जव का अर्थ प्रज्ञा-सम्पन्न व्यक्ति के द्वारा आन्तरिक सद्गुणों का विकास करना है, अचेतन मन की अनजानी दमित वासनाओं को चेतन मन के धरातल पर लाना है। "आर्जव" आत्म-संशोधन की भूमिका का निर्माण करता है, व्यक्ति के चरित्र एवं व्यवहार को निष्कपट बनाता है, कषायों के बन्धनों को

ऋजु कर विवेक की भूमिका प्रदान करता है तथा मिथ्या माया का आवरण हटा आत्मानुसंधान के रहस्य-द्वार के कपाट को थपथपाता है।

IV. सत्य

आर्जव से सत्याचरण के लिए प्रेरणा मिलती है। आर्जव की नींव पर सत्य का भवन बनाया जा सकता है। निष्कपटता से मन, वचन और शरीर की क्रियाओं की एकरूपता स्थापित होती है। ऋजुता से मिथ्यात्व का अन्त होता है, सत्याचरण की प्रवृत्ति विकसित होती है। जब व्यक्ति सत्याचरण करने लगता है तब कपट कुटिलता के द्वार बन्द हो जाते हैं।

सत्य एवं 'शौच' का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बिना चित्ता की शुद्धि के व्यक्ति लोभ-वृत्ति को दूर नहीं कर पाता। जब तक लोभ की भावना रहती है तब तक झूठ बोलने की भी सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। हम जिन कारणों से झूठ बोलते हैं उनमें लोभ बहुत बड़ा कारण होता है। 'शौच' से हम लोभ पर विजय प्राप्त करते हैं। इस कारण से शौच गुण का सत्य से गहरा सम्बन्ध है।

सत्य आत्मा का स्वाभाविक गुण है। सत्याचरण के बिना आत्मिक शुद्धि असम्भव है। इस कारण सत्य से शौच का मार्ग प्रशस्त होता है।

सत्य को अंगीकार किये बिना आत्मा का उद्धार असम्भव है। इसी कारण कहा गया है कि आत्मार्थी साधक को परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालतारहित तथा किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए। चुभे हुए लौह कंटक का दुःख घड़ी दो घड़ी का होता है। वह काँटा निकालने पर सरलता से दूर हो जाता है। दुर्वचनों का काँटा एक बार चुभ जाने पर सरलता से नहीं निकलता। इस कारण सत्य प्रिय एवं हितकारी होना चाहिए। केवल तथ्य-परकता ही सत्यता नहीं है। इसके साथ व्यक्ति की मानसिकता जुड़ी हुई है। इसी कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष, दम्भ, कल्पित व्याख्या तथा हिंसा का आश्रय लेकर जो भाषा बोली जाती है, वह असत्य भाषा कहलाती है। सत्य अहिंसा का रक्षक है। इसलिए सत्य में दूसरे प्राणी की हित-आंकाक्षा का तत्व जुड़ा रहता है। सत्य आत्मा का धर्म है। आत्मा का स्वभाव सत्य है। इस कारण 'अहिंसा निरपेक्ष यथातथ्य प्रकाशन' सत्य नहीं माना जा सकता।

सत्य का विरोधी भाव झूठ बोलना तथा मिथ्या व्यवहार करना है। किसी सद्द्वस्तु के स्वरूप, स्थान, काल आदि के सम्बन्ध में मिथ्या बोलकर, उसे असत् बतलाना, ये दोनों ही प्रकार असत्य वचन के द्योतक हैं। किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को छिपाकर झूठ बोलना ही सामान्यतः सत्य का विरोधी माना

जाता है। मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अप्रिय, अहितकारी एवं पर-पीड़क वचन बोलना भी असत्य है।

सत्य को सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। वैदिक ऋषियों ने सत्य के स्वरूप की सूक्ष्म व्याख्या की है। "सब कुछ आत्माश्रित है। आत्मा सत्य है, अतः सब कुछ सत्यात्मक है। यही सत्य मैं (जीव) हूँ।

सत्य को ब्रह्म कहा गया है और आत्मा का रूप बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत में परमात्मा को सत्यव्रत, परमसत्य, त्रिसत्य, सत्यनिहित, सत्य का सत्य एवं सत्यात्मक कहकर उसकी वंदना की गयी है। अद्वैतवादी शंकराचार्य सत्य की तीन श्रेणियाँ मानते हैं: (१) व्यावहारिक सत्य, (२) प्रातिभासिक सत्य, (३) पारमार्थिक सत्य। उन्होंने पारमार्थिक सत्य को ही वास्तविक सत्य माना है। बौद्धाचार्यों ने सत्य के दो रूप माने हैं: (१) सांवृत्तािक सत्य, (२) पारमार्थिक सत्य। जैन दर्शन में निरूपित निश्चयनय एवं व्यवहारनय तत्त्वतः सत्य के प्रकार हैं। वेदान्ती केवल पारमार्थिक सत्य में विश्वास करते हैं। जैन दर्शन निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय को कम महत्व देता है। तांत्रिक सत्य के समस्त स्तरों में विश्वास करते हैं।

प्रश्न उठता है कि सत्य क्या है? सत्य की प्रकृति क्या है? एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जिस किसी भी वस्तु की सत्ता है, वह सत्य है। हमें पानी दिखाई पड़ता है, इसलिए पानी सत्य है। इसी के साथ प्रश्न उपस्थित होता है कि जो दिखाई न पड़े या जिसका अनुभव न हो, क्या वह सत्य नहीं है? किसी अंधेरे कमरे में पड़ी हुई सुई को यदि हम देख नहीं पाते, उसकी सत्ता का अनुभव नहीं कर पाते, तो क्या उसकी सत्ता नहीं है?

हम किसी भौतिक वस्तु की सत्ता का ज्ञान सर्वथा आसानी से नहीं कर पाते। कभी उसके लिए हमें उस वस्तु को स्वयं जाकर देखना होता है। कभी देखने के लिए प्रकाश की व्यवस्था करनी होती है। कभी प्रकाश में भी अनेक बार खोजना पड़ता है, ध्यान लगाना पड़ता है, मन एकाग्र करना पड़ता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि अतीन्द्रिय एवं निरपेक्ष सत्य की सूक्ष्म एवं अमूर्त सत्ता का ज्ञान हम किस प्रकार कर सकते हैं ?

जिस वस्तु की हम खोज कर रहे हैं उसके आधारों तथा खोज के कारणों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। नैयायिक निम्न 'प्रमाण' मानते हैं: (१) प्रत्यक्ष प्रमाण (२) अनुमान प्रमाण (३) उपमान प्रमाण

(४) शब्द प्रमाण। इनके अतिरिक्त वेदान्ती और मीमांसक- अनुपलब्धि और अर्थापत्ति- ये दो अतिरिक्त प्रमाण मानते हैं। सांख्य केवल प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द को ही मानते हैं। यथार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। कुछ विचारक यह मानते हैं कि जिन वस्तुओं का प्रत्यक्षण हो रहा है वे सभी सत्य हैं। दूसरे विचारक मानते हैं कि कुछ समय के लिए हमें भ्रान्ति भी हो सकती है, जैसे हम रस्सी को

साँप समझ सकते हैं। इस कारण प्रातिभासिक सत्य यथार्थ सत्य नहीं है। कभी-कभी सारे साधनों के बावजूद भी हम सत्य की तह तक पहुँचने में एकदम समर्थ नहीं हो पाते। प्रत्यक्ष में इन्द्रिय दोष भी हो सकता है। हमारा मस्तिष्क किसी अन्य स्थान पर केन्द्रित हो सकता है। इसके कारण हमारी आँखे खुली रहने पर भी हम कुछ देख नहीं पाते। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण तथा धर्म का ज्ञान होता है। विभिन्न स्थानों पर से देखने पर एक ही वस्तु हमें भिन्न प्रकार की लग सकती है, तथा एक ही स्थान पर एक ही वस्तु विभिन्न द्रष्टाओं को विभिन्न प्रकार की प्रतीत हो सकती है। भारतवर्ष में जिस क्षण कोई व्यक्ति सूर्योदय देखता है, उसी क्षण संसार के किसी दूसरे स्थान में वहाँ के व्यक्ति को सूर्योस्त के दर्शन होते हैं। एक ही व्यक्ति से विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। एक ही व्यक्ति किसी के लिए कठोर प्रशासक हो सकता है, तो दूसरे के लिए कोमल प्रेमी।

इन्हीं कारणों से जैन तत्व-चिन्तन वस्तु के अनेकान्त स्वरूप की मीमांसा करता है। स्याद्वाद कथन शैली है। सप्तकारक-वचन-विन्यास से वस्तु के अनन्त धर्मों के अभिव्यक्तिकरण की दिशा में तत्व चिन्तक को सही दिशा एवं सही माध्यम प्राप्त होता है। (दे० ३.३.१ व ३.३.२)

सत्य आचरण जीवन की तपश्चर्या है। इसके मार्ग में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी कारण योगी अरविंद ने कहा कि सत्य को जीतना बड़ा कठिन एवं दुष्कर है। इस जीत के लिए मनुष्य को सच्चा योद्धा बनना पड़ता है- ऐसा योद्धा जो किसी भी वस्तु या परिस्थिति से भय नहीं खाता।

सत्य का पालन किये बिना अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता, साधना सफल नहीं हो पाती। आत्मा नदी है, संयम पुण्य तीर्थ है, सत्य उसका पुण्य जल है एवं शील उसकी तरंगें हैं। महाभारतकार ऐसी ही नदी में पांडु पुत्र को स्नान करने का परामर्श देते हैं तथा बताते हैं कि पानी की नदी में स्नान करने से आत्मा का शुद्धिकरण सम्भव नहीं है।

सत्य आध्यात्मिक साधना की नींव है। जब व्यक्ति भौतिक सुखों को ही चरम-सत्य मानकर बैठ जाता है तो वह वास्तविक आत्मिक शक्ति की प्राप्ति करने में असमर्थ रहता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य सत्य से असत्य की ओर, ज्योति से अन्धकार की ओर एवं अमृत से मृत्यु की ओर गमन करता है। राग और द्वेष के कारण वास्तविक सत्य पीछे छूट जाता है तथा मिथ्यात्व ही सत्य प्रतीत होने लगता है। ऐसे व्यक्ति सत्य का तब तक साक्षात्कार नहीं कर पाते जब तक उनका अहंकार विगलित नहीं हो जाता तथा उनकी वृत्तियों में निष्कपटता नहीं आ जाती। अज्ञानी की अपेक्षा मिथ्याज्ञानी को सत्य का ज्ञान कराना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। जब अमृत-तत्व स्वर्ण के पात्र में बन्द हो जाता है, तब उसकी खोज का रास्ता

बड़ा कठिन हो जाता है। स्वर्ण की चकाचौंध में वह अपना लक्ष्य भूल जाता है। असत्य से सत्य की ओर, तम से ज्योति की ओर एवं मृत्यु से अमृत की ओर चलने का आह्वान करने वाले उपनिषद्कारों ने संशय रहित, द्विविधाहीन मनःस्थिति में सोने के पात्र के स्वर्णिम आवरण को हटाने की बात कही। सन्त कबीर ने भी कहा कि अन्धविश्वास मत करो, विवेक के आधार पर वस्तु की परख करो। जो व्यक्ति खरे खोटे का विचार किये बिना ही विश्वास कर लेता है, वह उस मूर्ख महाजन की भाँति है जो मूल गँवाकर लाभ की आशा करता है :

खरा खोटा जिन नहीं परखाया।

चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया।।

यही कारण है कि सत्य प्राप्ति के लिए चित की उन्मुक्तता एवं अनाग्रह तथा विवेक परम आवश्यक है। इस वृत्ति से जो विचार किया जाता है, वह सम्यग् ज्ञान होता है।

जब व्यक्ति विचारपूर्वक सत्य का साक्षात्कार करता है, तो दुःख दूर हो जाता है :

करु विचार जेहि सब दुख जाहीं।

जो सत्य है, वह आत्मा है। आत्मा का स्वभाव सत्य है। कषायों के बन्धन के कारण व्यक्ति "पर" को "अपना" मानता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति अपने अचेतन मन की भावना का विचार नहीं कर पाता। जो मनुष्य तप एवं साधना के द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, वही दार्शनिक दृष्टि से आत्म-साक्षात्कार करने में तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतन और अचेतन मन के द्वन्द्व को दूर करने में समर्थ होता है। उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण सत्य, आनन्द, एवं ब्रह्म का प्रयोग समान अर्थों में होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली की कथा बहुत सार्थक है। भृगु ने अपने पिता वरु ण से कहा कि भगवन् मैं ब्रह्मज्ञान पाना चाहता हूँ। पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या से पुत्र ने आविष्कार किया कि अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। पुत्र ने दोबारा तप करके पता लगाया कि प्राण ही ब्रह्म है। पिता ने पुनः लौटा दिया। पुत्र ने पुनः तप किया और आकर बतलाया कि ब्रह्म मन है। पिता ने कहा, तुम्हारी साधना और तप माँगती है। पुत्र ने तप करके आविष्कार किया कि विज्ञान ही ब्रह्म है। पिता ने कहा कि तुम्हारी साधना पूर्णतया की ओर बढ़ रही है, थोड़ा तप और करो। पुत्र ने साधना की गहनतम भूमिकाओं को पार कर उत्तर दिया कि आनन्द ही ब्रह्म है।

इस प्रकार अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द ये विभिन्न स्तर हैं। इनमें आनन्द रू पी आत्म तत्व का साक्षात्कार सबसे कठिन और अन्तिम है। दूसरे शब्दों में निरपेक्ष सत्य की प्रतीति एकदम सम्भव नहीं है।

सत्य विश्व तथा विश्व के समस्त अस्तित्वों का आधार है। सत्य का सम्यग् ज्ञान न होने तक ही अनस्तित्व एवं सत्याभास जीवित रहते हैं। जब सत्य का प्रकाश धूमिल हो जाता है तभी जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा की शुद्ध चेतना राग-द्वेष एवं मोह के कारण "पर" को अपना समझने लगती है, शैव दर्शन की दृष्टि से माया अज्ञान की चादर उढ़ाकर आत्मा से भिन्न भेदपूर्ण सृष्टि उत्पन्न करती है तथा स्वतन्त्र पुरुष पर तीनों प्रकार के मलों का आवरण डालकर उसे लिप्त एवं परतन्त्र बना देती है तथा गीताकार की दृष्टि से कामरूप बैरी मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान को आच्छादित कर, जीवात्मा को मोहित कर देता है।

V. शौच

शौच का अर्थ है- शुचिता, शुद्धता, स्वच्छता, पवित्रता एवं निर्मलता। शौच का अर्थ शरीर के धरातल पर "स्वच्छता", मन के धरातल पर "पवित्रता" तथा आध्यात्मिक धरातल पर "आत्मशुद्धि" है। कर्मबन्धनों से रहित परम चैतन्य आत्मा का साक्षात्कार ही आन्तरिक शौच है। आत्मा का मूल स्वभाव शौच है। आत्मा का सहज स्वभाव शुद्ध चैतन्य मात्र है। चैतन्य स्वभाव का अनुसरण करने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। "अज्ञानी जीव राग आदि के बन्धन के कारण ज्ञान की उपासना नहीं करता। आत्मा और शरीर में एकता की कल्पना के कारण रागद्वेषों की तथा अन्याय विकल्पों की पूजा करता है।"

वेदान्त भी यह प्रतिपादन करता है कि शौच आत्मा का स्वाभाविक गुण है। अशौच के कारण ही आत्मा भव-बन्धन में पड़ती है। मल ही बन्धन का कारण है। शैव तान्त्रिकों के अनुसार समस्त मलों से मुक्त हो जाने पर "पशु" "पशुपति" बन जाता है। गीता में ज्ञान के साधनों का विवरण देते समय नौ गुणों में शौच को भी स्थान दिया गया है।

व्यक्ति जब बहिर्मुखी होकर खोज करता है तो "अपने" को नहीं खोज पाता। वह बाहरी साधनों में सुख की खोज करता है। उसे तात्कालिक सुख का अहसास भले ही हो जाए, स्थायी आनन्द प्राप्त नहीं हो पाता। इसी कारण दार्शनिक कहते हैं "अपने को पहिचानो।" दर्शन की इस मान्यता का समर्थन मनोविज्ञान करता है। मनोविज्ञान की पहुँच आत्मा तक नहीं है, किन्तु चेतन मन (बाह्य) की अपेक्षा वह अचेतन मन (आन्तरिक) को महत्वपूर्ण मानते हुए कहता है - अपनी गुप्त दमित प्रवृत्तियों को चेतना की सतह पर लाने का उपाय करो।

मलिनता किसी भी धरातल पर ठीक नहीं है। हम अपने शरीर को साफ करते हैं। अपने वातावरण को स्वच्छ बनाते हैं। यदि हम अपने शरीर की सफाई न करें तो शारीरिक रोग उत्पन्न हो

सकते हैं। यदि हम परिवेश को साफ न करें तो उसको देखकर हमारे मन में जुगुप्सा का भाव आ सकता है। पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या कितनी चिन्ताजनक है- इससे हम सभी विदित हैं।

शरीर की सफाई की अपेक्षा मन की सफाई अधिक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। स्नान करके व्यक्ति अपने शरीर को तो साफ कर सकता है, किन्तु इससे उसका मन पवित्र नहीं होता। मन की मलिनता से व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के रोग होते हैं। शारीरिक दृष्टि से घातक बीमारियाँ हो जाती हैं। मानसिक दृष्टि से वह आत्मग्लानि, चिन्ता, भय, क्रोध, ईर्ष्या तथा निराशा का अनुभव करता है। जटिल व्याधियों का शिकार हो जाता है। मनोविज्ञान अचेतन मन में जमा दुर्गुणों को चेतना के धरातल पर लाकर उन्हें शान्त करके का उपाय बताता है। आत्मनिरीक्षण, आत्मस्वीकृति, तथा आत्मनियन्त्रण द्वारा उन्हें मित्र बनाकर उनका रेचन करता है।

आत्मा के साक्षात्कार के लिए शौच गुण का पालन अनिवार्य है। किसी वस्तु का दर्शन हम तभी कर सकते हैं जब वह अपने स्वरूप में प्रकट हो। आत्मा शुद्ध स्वरूप है, इस कारण शौच गुण का पालन आत्मदर्शन के लिए अनिवार्य है। हमारी आत्मा मलों एवं कषायों के आवरण द्वारा ढकी हुई है। हम इस आवरण को हटाकर आत्मशुद्धि कर सकते हैं। रूई से बने हुए कपड़े का प्रकृतरंग सफेद है। गन्दगी एवं धूल के कण उसे गन्दा एवं मैला कर देते हैं। जिस कपड़े का मूल रंग धवल है, वह 'पर' संयोग के कारण मैला लगता है। हम कहते हैं कि कपड़ा गन्दा है, मैला है। गन्दगी और मैलापन कपड़े का स्वाभाविक गुण नहीं है। जब हम कपड़े को साफ कर देते हैं, तो कपड़ा गन्दा नहीं रह जाता। जब उसका मैल हटा देते हैं तो वह अपने स्वाभाविक रंग में दिखाई देने लगता है। जब व्यक्ति कषायों एवं कर्म-मलों की गन्दगी को हटा देता है तो आत्मा का शुद्ध स्वभाव शौच प्रगट हो जाता है। कपड़े के साथ जब तक गन्दगी एवं मैलापन का संयोग रहता है, तब तक उसकी धवलता नजर नहीं आती। आत्मा के साथ जब तक राग-द्वेष जन्य कर्म बन्धन की अशुद्धता रहती है, तब तक आत्मा के शुचि-स्वभाव का दर्शन नहीं हो पाता।

जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। इस कारण आध्यात्मिक दृष्टि बाह्य शौच की अपेक्षा आन्तरिक शुचिता को महत्व देती है। पाप या कषाय शरीर को नहीं आत्मा को लगते हैं। महाभारत में जब युधिष्ठिर को यह तत्व-बोध हो जाता है तो वे स्वीकार करते हैं कि बाहरी स्नान से शुद्धि की कल्पना भ्रामक है। भगवान कृष्ण उपदेश देते हैं कि अंतःकरण की शुद्धि आवश्यक है। आत्मा रू पी नदी में संयम का जल भरा है, तप की तरंगें उठती हैं, सत्य उसका प्रवाह है और ब्रह्मचर्य उसका तट है। व्यक्ति को इसी में स्नान करना चाहिए।

भगवान महावीर की घोषणा है कि प्रातः स्नान आदि कर लेने से मोक्ष नहीं होता।

धर्म के ही पवित्र अनुष्ठान से आत्मा का शुद्धिकरण होता है। "धम्मो सुद्धस्स चिद्धई शुद्धात्मा में ही धर्म स्थित रह सकता है'।

शुद्ध आत्मा में ही धर्म स्थित रहता है, अशुद्ध आत्मा में नहीं। बिना शुचिता के सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् चारित्र सम्भव नहीं है। आत्मा चेतना का साक्षात्कार करना है तो आत्मशुद्धि आवश्यक है। कषायों को हटाना अनिवार्य है। कर्म-रूप ग्रन्थियों को ढीला कर देने से ही काम नहीं चलता, उन्हें दूर करना होता है, निर्ग्रन्थ बनना होता है।

आत्म-विशुद्धि का रास्ता किसी व्यक्ति या देवता के प्रमि नमन नहीं है। यह व्यक्ति के आत्म स्वभाव को जानने की प्रक्रिया है। व्यक्ति के जिन होने की अर्थात् इन्द्रियों को जीतने की दशा है। विकारों की राख के नीचे दबी हुई शुद्ध एवं परम चैतन्य रूपी आग की खोज है। ऐसी आग जब राखों की परतों को अलग करके अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव से प्रदीप्त हो जाती है तो संसार के प्राणी मात्र को प्रकाश देती है। शौच का महत्त्व प्रायः सभी धर्म एवं दर्शन-सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। शुद्धि किसकी? इसके सम्बन्ध में अलग-अलग दर्शन सम्प्रदायों की शब्दावली में अन्तर है। योगी शरीर, प्राण, मन, शुक्र, वाणी एवं स्वरो की शुद्धि करते हैं। भक्त अपने भाव को शुद्ध करता है। ज्ञानी मन की शुद्धता तथा हठयोगी काया की शुद्धि का उपदेश देते हैं। यदि तत्व की दृष्टि से देखें तो इन सबका लक्ष्य "आत्मशुद्धि" ही है। शौच का भावार्थ भी अलग-अलग दर्शन सम्प्रदायों में अलग-अलग वाचकों द्वारा अभिव्यक्त है। ये वाचक हैं- बन्धन का अभाव, मलों की अप्सारणा, भोगों से विरति एवं संन्यास, कषायों का नाश, चित का शुद्धिकरण, आत्मविशुद्धि आदि।

शौच के पालन के लिए आर्जव अनिवार्य है। जब तक कषायों के बन्धन ढीले नहीं होते, तब तक उन्हें हटाया नहीं जा सकता। आर्जव के द्वारा व्यक्ति बन्धनों को शिथिल करता है। क्षमा एवं मार्दव के द्वारा अपने द्वेष भाव को दूर करता है। इसके बाद वह शौच के द्वारा लोभ पर विजय प्राप्त करता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं शौच के गुणों के पालन से राग-द्वेष के भाव समाप्त हो जाते हैं, कर्म बन्धन के कारण दूर हो जाते हैं। शुद्धि के मार्ग में लोभ अवरोधक तत्व है। लोभ मन की चंचलता है। लोभ के कारण हमारा असन्तोष बढ़ता है, इच्छाओं में वृद्धि होती है। लोभ से राग उत्पन्न होता है। राग से पर वस्तुओं में, पर पदार्थों में आसक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में हम अपने ही स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। लोभी जीव की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। जब तक लोभ है, तब तक त्रिलोक की राज्य प्राप्ति के पश्चात् भी सन्तोष नहीं हो सकता। इसी कारण यह कहा जाता है कि लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है- "लोभो सव्व विणासणो"।

हिन्दू पुराणों में बहुत सी कथाओं में यही विषय है कि पृथ्वी लोक के किसी साधक की सत्व विशुद्धि देखकर जब देवगण स्वयं स्वर्गों से अपदस्थ होने के भय से व्याकुल हो जाते हैं तो वे उसकी साधना में अवरोध उत्पन्न करने के लिए उसे अनेक प्रकार के लोभ देते हैं। लोभ से ही भोग का रास्ता प्रशस्त होता है। भोग की प्रवृत्ति को रोकने के लिए लोभवृत्ति को हटाना आवश्यक है। जब तक लोभ एवं भोग भाव रहता है तब तक मल एवं कषाय विद्यमान रहते हैं। इस कारण शौच के लिए लोभ वृत्ति एवं भोग-भावना को जीतना आवश्यक है। जैन शास्त्रों में कहा गया है -

सम-संतोस-जलेण य, जो धोवदि तिण्ण लोह मल पुंजं ।

भोगण गिद्धि विहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ।।

"जो मुनि समताभाव और सन्तोषरू पी जल से तृष्णा और लोभ रू पी मल के पुंज को धोता है तथा भोजन में लालची नहीं होता, उसके निर्मल शौच-धर्म होता है।"

जब व्यक्ति में समताभाव उत्पन्न होता है तो वह संसार के सभी प्राणियों को अपने समान समझने लगता है। फिर वह न तो किसी के प्रति क्रोध करता है और न अपने प्रति अहंकार रखता है। प्राणी मात्र के प्रति आत्मतुल्यता का भाव उत्पन्न होने पर मान एवं क्रोध के भाव समाप्त हो जाते हैं। सन्तोषवृत्ति के कारण लोभ की भावना समाप्त हो जाती है। सन्तोष से मन स्थिर रहता है। मन का असन्तोष दूर होता है। इस प्रकार समताभाव एवं सन्तोष के परिपालन एवं विकास से व्यक्ति के मन के क्रोध, बैर, घृणा, प्रतिशोध, द्वेष, मान, अहंकार, मद, राग, काम, लोभ, मोह एवं तृष्णा आदि विकार समाप्त हो जाते हैं। ये सभी मनोविकार अंतश्चेतना को मलिन करते हैं। चेतना की शुद्धता के लिए इनका निवारण आवश्यक है। इस प्रकार समता एवं सन्तोष के विकास से शौच गुण की प्राप्ति होती है। क्षमा, सन्तोष, मृदुता, सरलता, सत्य, दया, समता इत्यादि मनःशुद्धि के सहायक तत्व हैं।

शौच में शुद्धि के साथ-साथ पवित्रता का भाव समाहित है। व्यक्ति के सामाजिक जीवन में भी शौच का अत्यधिक महत्व है। व्यक्ति लोभ के कारण झूठ बोलता है। भौतिक साधनों का अधिकाधिक संग्रह करता है। तृष्णा के कारण परिग्रह की वृत्ति का विकास होता है। वह भौतिक वस्तुओं का संग्रह करके ही सन्तुष्ट नहीं रहता, पूँजी उत्पादन के साधनों पर भी अपना एकाधिकार करना चाहता है। इस प्रकार समाज में आर्थिक विषमता बढ़ती है तथा सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

लोभी व्यक्ति सामाजिक आक्रोश का पात्र बन जाता है। लोभ वृत्ति के कारण उसकी उदारता समाप्त हो जाती है। वह अनुदार एवं असहिष्णु हो जाता है। उसके मन में पाशविकता एवं क्रूर वृत्तियों का विकास होता है। समाज के जो सदस्य उसके अधीन कार्य करते हैं, उनका वह शोषण करता है।

परपीड़न में उसे तृप्ति मिलती है। इस कारण उसके प्रति विरक्ति, उपेक्षा, अमैत्री, घृणा एवं आम्रेश के भाव उत्पन्न होते हैं।

इसके विपरीत सन्तोष एवं धैर्य हमारे सामाजिक जीवन के विकास के लिए सहायक है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि सन्तोष का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है। संतोषी व्यक्ति कर्मवादी होता है, भाग्यवादी नहीं। कर्म से प्रसूत फल के प्रति उसके मन में सन्तोष रहता है। इसी सन्तोष के कारण व्यक्ति कभी निराश नहीं होता, कभी टूटता नहीं, और किसी से पराजित नहीं होता। श्रम करने पर भी यदि उसे अनुरूप फल प्राप्त नहीं होता, तो वह हताश नहीं हो जाता, अपना विवेक नहीं खो देता। इसके विपरीत विवेक के साथ शान्त मन से पहले से अधिक संकल्प के साथ परिश्रम करता है। ऐसा व्यक्ति कुंठाओं का शिकार नहीं बनता। इसी विचारधारा का दार्शनिक प्रतिपादन गीता में निष्काम कर्मयोग के रूप में हुआ है, जो हमारे जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से भी मूल्यवान है।

इस प्रकार शौच मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अचेतन मन में पड़ी हुई दमित कुंठाओं एवं वासनाओं के मल को दूर कर, चेतन एवं अचेतन मन के एकात्मीकरण, दुष्प्रवृत्तियों के मार्गान्तीकरण एवं दुर्गुणों का रेचन कर हमारे सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का शुद्धिकरण करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से राग-द्वेषों से विरत आत्मा के प्रकाश की शुभ्रता से परिचित कराता है तथा सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति को बहिर्मुखी भौतिकवादी व्यवस्था की चकाचौंध से हटाकर आन्तरिक नैतिक मूल्यों के प्रति प्रेरित करता है।

VI. संयम

मन बार-बार इन्द्रिय सुखों की ओर प्रवृत्त होता है। इन्द्रियों के सुख में ही जीवन लक्ष्य मानने वाले व्यक्ति अन्दर की ओर झाँककर नहीं देखते, आत्मा के सहज रूप का साक्षात्कार नहीं कर पाते। राग एवं द्वेष से उत्पन्न मनोविकारों के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त प्रवाह में बहते रहते हैं।

संयम का सामान्य अर्थ रोकथाम, प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण है। संयमी व्यक्ति अपनी इच्छाओं, मनोविकारों एवं प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से संयम आत्मा का गुण है। इस कारण आत्मानुशासन संयम है। आत्मा में एकाग्र होना संयम है।

संयम एवं दमन में अन्तर है। पुराने शास्त्रों में यद्यपि संयम एवं दमन पर्याय रूप में प्रयुक्त हैं किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान दोनों में अन्तर करता है। आज के सन्दर्भ में ये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं।

संयम का अर्थ नियन्त्रण एवं दमन का अर्थ दबाना है। जब व्यक्ति चेतन मन में चलने वाले संघर्ष को नियंत्रित नहीं कर पाता, तो वह संघर्ष अचेतन मन में चला जाता है। वहाँ वह दमित अवस्था में परिणत हो जाता है। व्यक्ति का अहंकार जितना प्रबल होता है उसके जीवन में दमित वासनार्यें उतनी ही प्रबल एवं उग्र होती हैं।

एक ओर वासनाओं के दमन से व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है तो दूसरी ओर वासनाओं के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त व्यवहार से सामाजिक जीवन की व्यवस्था नष्ट हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिक मानसिक रोगों के निराकरण के लिए दमित वासना के प्रकाशन को आवश्यक मानते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनेक दमित वासनार्यें असामाजिक एवं अनैतिक होती हैं। इनका स्वतन्त्र प्रकाशन एवं आचरण सामाजिक-व्यवस्था की दृष्टि से सम्भव नहीं होता। दमित वासनाओं का व्यवहारगत-प्रकाशन कालगत अन्तराल के कारण भी उचित नहीं होता। बाल्यकाल की दमित इच्छाओं को व्यक्ति जीवन के यौवनकाल अथवा प्रौढ़ावस्था में प्राकृतिक रूप से तृप्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त इस प्रक्रिया से मानसिक द्वन्द्व बढ़ जाता है। यदि हम दमित कामवासना को अपने आचरण में प्रकाशित होने की छूट प्रदान करते हैं तो ऐसा करने से मानसिक द्वन्द्व का निराकरण नहीं हो पाता, उसका रूपान्तरण होता है। कामवासना के दमन के समय वह शक्ति प्रायः मनुष्य की 'अहंकार-बुद्धि' होती है। कामवासना को अपने आचरण में प्रकाशित होने की छूट देते समय मनुष्य की अहंकार-बुद्धि का दमन हो जाता है। इससे एक प्रकार के दमन का स्थान दूसरा दमन ले लेता है।

दमन से मनुष्य की स्मृति का हास होता है, चित्ता की एकाग्रता समाप्त होती है, इच्छा शक्ति दुर्बल होती है। जीवन चिन्ता, भय, क्रोध आदि भावों से संत्रस्त हो जाता है।

जब मनुष्य अचेतन मन की अंधेरी कोठरी में झांकता है तब अचेतन मन में नये अनुभवों का दमन होना बन्द हो जाता है। दमित वासनार्यें चेतन मन के स्तर पर आ जाती हैं। चेतन और अचेतन मन में समन्वय स्थापित हो जाता है। व्यक्ति चेतन मन के धरातल पर स्व-प्रयत्न से आत्म नियन्त्रण करने में समर्थ हो जाता है। अचेतन मन का कार्य दमन है, चेतन मन का कार्य आत्मनियन्त्रण है। आत्मनियन्त्रण से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ती है, उसके चरित्र का निर्माण होता है तथा व्यक्तित्व का विकास होता है। 'आत्म-नियन्त्रण' का अर्थ चेतन मन के भाव का अचेतन में जाकर दमित होना नहीं है। इसका अर्थ चेतन मन के धरातल पर मन के उग्रभावों को दृढ़ता के साथ जानबूझकर नियंत्रित करना है, वश में करना है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतन मन के धरातल पर प्रवृत्तियों के आत्म-नियन्त्रण से व्यक्तित्व का विकास होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रियों के विषय-विकारों पर प्रतिबन्ध लगाये बिना साधना सम्भव

नहीं है। संयमहीन साधना छलनी में पानी इकट्ठा करने के समान है। शास्त्रों में "संयमः खलु जीवनम्" कहा गया है। संयम को ही जीवन का पर्याय माना गया है।

सभी आध्यात्मिक दर्शन धाराओं में संयम के महत्व का प्रतिपादन हुआ है। "अहिंसा संजमो तवो" कहकर महावीर ने अहिंसा, संयम और तप को धर्म का मूलाधार माना है। बुद्ध ने संयम के लिए अप्रमाद शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा कि प्रमाद ही समस्त अधःपतनों का मूल कारण है। इस कारण भिक्षु को संयम का अभ्यास करना चाहिए। प्राज्ञ-पुरुष उद्योग, अप्रमाद, संयम और नियन्त्रण द्वारा ऐसा द्वीप बनावे, जिसे बड़ी बाढ़ भी न डुबो सके। योगी लोग इन्द्रियों के विषय विकारों को रोककर अपने वश में करते हैं, उनका संयम रू पी अग्नि में हवन करते हैं। गीता में "आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्यति इ पानदीपिते" कहा गया है। ज्ञान से दीप्त आत्म संयम रू पी योग-अग्नि में हवन करने का परामर्श दिया गया है।

संयम के प्रकारों की भी चर्चा हुई है -

स्थानांग में संयम के चार प्रकार बतलाये गये हैं-"मण संजमे, वङ्ग संजमे, काय संजमे, उवगरण संजमे"। (१) मन का संयम (२) वचन का संयम (३) शरीर का संयम (४) उपाधि (सामग्री) का संयम। साधना की दृष्टि से योग सम्प्रदाय में संयम को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है :

- (१) जल का संयम - इससे योगी ब्रह्मरन्ध्र में अटल स्थिति प्राप्त करता है।
- (२) अन्न का संयम - इससे योगी के हृदयाकाश में ज्योति का उन्मेष होता है।
- (३) पवन का संयम - इससे योगी देह रू पी घर के ९ दरवाजों को बन्द करके यौगिक शक्तियों के स्थिरीकरण में सफलता प्राप्त करता है।
- (४) बिन्दु का संयम - इससे योग की साधना के लिए उपयोगी शारीरिक स्थिरता प्राप्त होती है।

संयम के प्रकार एवं उनकी प्राप्ति के साधनों का वर्गीकरण इस प्रकार है :-

- (१) तन का संयम - यह आहार-संयम एवं आसन द्वारा सिद्ध होता है।
- (२) प्राणों का संयम - यह प्राणायाम द्वारा सिद्ध होता है।
- (३) इंद्रियों का संयम - यह प्रत्याहार द्वारा सिद्ध होता है।
- (४) मन का संयम - यह यम-नियमों द्वारा सिद्ध होता है।
- (५) बुद्धि-आत्मा का संयम - यह धारणा, ध्यान एवं समाधि द्वारा सिद्ध होता है।

व्यक्ति क्षमा द्वारा क्रोध को, मार्दव द्वारा अहंकार को, आर्जव द्वारा माया एवं कपट को तथा शौच द्वारा लोभ को जीत लेता है। अहंकार, क्रोध, माया एवं लोभ ही राग-द्वेष के कारण हैं। इस प्रकार राग-द्वेष

के कारणों को दूर करके व्यक्ति 'सत्य' का प्रकाश प्राप्त कर आत्म ब्रह्म के मार्ग की ओर गमन करता है। यात्रा में सबसे बड़ा खतरा इन्द्रिय-लोलुपता एवं प्रमाद का है। दूसरा कारण यह है कि मन वस्तुतः अत्यन्त बलशाली एवं चंचल है। उसका निग्रह करना वायु की भाँति बहुत दुष्कर है। कृष्ण के द्वारा प्रतिपादित समत्व-भाव युक्त ध्यान योग की बहुत काल तक ठहरने वाली स्थिति के विषय में अर्जुन मन की चंचलता के कारण सन्देह करते हैं। संयम के द्वारा व्यक्ति इन्द्रियों की विषय उन्मुखता पर प्रतिबन्ध लगाता है, उन्हें नियन्त्रित करता है। संयम की लगाम से इन्द्रियों को वश में करके व्यक्ति अपने लक्ष्य पर पहुँचता है।

संयमी जीवन की पहली शर्त 'अप्रमाद' है। अप्रमाद निषेधात्मक है, संयम विधानात्मक है। जैसे रात्रि बीत जाने पर वृक्ष के पत्ते पीले पड़कर झड़ जाते हैं उसी तरह आयु बीतने पर मनुष्य की पर्याय नष्ट हो जाती है। इस कारण क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे जागरूक होकर समभाव से लोक का स्वरूप समझकर, अप्रमत्ता भाव से विचरण करना चाहिए। संसारी मनुष्य विषयों के प्रवाह में ही बहते रहते हैं। इन्द्रियों के सुख को ही मानव जीव का लक्ष्य मानकर चलते हैं। सन्त पुरुषों का लक्ष्य प्रतिस्रोत है। वे मुक्त होना चाहते हैं, स्वतन्त्र होना चाहते हैं, सहज होना चाहते हैं। संयम से इन्द्रियों की परतन्त्रता से छुटकारा मिलता है। संयम आत्मा का सहज स्वभाव है। साधना काल में संयम साधन है, सिद्धिकाल में स्वभाव है। अनुस्रोत संसार है, असंयम है, आत्मा का कषायों से संयोग है। प्रतिस्रोत संसार से बाहर निकलने का उपाय-द्वार है, आत्मा की अनात्मा से दूरी है, इन्द्रियों के सुख से विरत होकर विशुद्ध चैतन्य की ओर उन्मुखता है।

संयम के कारण हम क्रोध को शमन कर 'क्षमा' का अभ्यास करने में समर्थ होते हैं, इन्द्रिय भोग की कामना का परित्याग करके चित्त को शुद्ध करते हैं तथा जीवन को सहज एवं सरल बनाते हैं।

"संयम" का तप एवं त्याग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना संयम के "तप" सम्भव नहीं है।

संयम से जीव आस्रवों का निरोध करता है। उसी के पश्चात् पापों की निर्जरा कर पाता है। नाव में जब छेद हो जाता है तो उसमें पानी भरने लगता है। नाव को डूबने से बचाने के लिए पहले हम नाव का छेद बन्द करते हैं। जल का प्रवेश होना बन्द हो जाता है। इसके बाद आए हुए जल को नाव से बाहर निकालते हैं। संयम के द्वारा आत्मा की नाव में इन्द्रिय-सुखों की कामना रूपी जल को आने से रोकते हैं। पुनः तप द्वारा पूर्व-संचित जल रूपी कर्मों को सुखाते हैं।

परिग्रह में व्यक्ति जोड़ता है। संयम के द्वारा व्यक्ति जोड़ने की प्रवृत्ति को संयमित करता है। संचय एवं भोग की प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध के बाद व्यक्ति के अन्तःकरण में त्याग की भावना उत्पन्न होती है।

मानव जाति का अस्तित्व संयम के बिना सम्भव नहीं है। मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों के नियन्त्रण के द्वारा ही सामाजिक प्राणी बन पाया है। सामाजिक संरचना एवं व्यवस्था तभी कायम रह सकती है, जब उसके सदस्य नियमों का पालन करें। नियमों का पालन करना ही सामाजिक संयम है। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ हॉब्स ने समाज-रचना से पूर्व की स्थिति पर विचार किया है। वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब तक मनुष्य ने समाज नहीं बनाया था, तब तक उसे धर्म, मर्यादा, नैतिकता तथा संयम का ज्ञान नहीं था। वह मन में उठने वाली वासनाओं की पूर्ति के लिए दल बनाकर जंगलों में घूमता था। एक दल दूसरे दल पर आक्रमण कर, उसकी सम्पत्ति छीनने का प्रयास करता था। जो दल सबल होता था, वह शत्रु दल के सदस्यों को बन्दी बनाकर मार डालता था। कोई दल सुरक्षित नहीं था। सबके जीवन में असुरक्षा की भावना थी। इस जीवन से परेशान होकर सबने मिलकर समाज बनाया और इस प्रकार अपने जीवन में संयम का पालन करना सीखा। समाज की प्रत्येक इकाई अपने को संयम की परिधि में बांधकर जब जीवन व्यतीत करती है तभी समाज में शान्ति व्यवस्था कायम रहती है। जब किसी समाज के सदस्य संयम के बंधनो को तोड़ते हैं तो उस समाज के वातावरण में जहर घुल जाता है। स्वच्छन्द एवं कामुक प्रेम का आचरण करने वालों के जीवन में क्या होता है ? प्रेम शारीरिक वासना की तृप्ति का साधन बनकर रह जाता है। मन का मिलन नहीं हो पाता। तथाकथित आधुनिक-समाज के व्यक्तियों के जीवन में इस तथ्य को साक्षात् देखा जा सकता है। स्वच्छन्द यौनाचार के कारण उनके जीवन में अतृप्ति, वितृष्णा, कुंठा एवं संत्रास की प्रवृत्तियाँ मुखर हैं। इन्द्रिय-भोगों की तृप्ति असंख्य भोग-सामग्रियों के निर्बाध सेवन एवं संयम-शून्य कामाचार से सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। आग में जितना घी डाला जाता है, आग उतनी ही अधिक उद्दीप्त होती है। इस कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संयम अनिवार्य है।

क्रोध पर संयम न करने के कारण हमारा जीवन संघर्षों से भर जाता है। काम पर संयम न रखने के कारण हम पशु के धरातल पर उतर आते हैं। संयम-हीन आचरण के कारण ही जीवन में अशांति, व्याकुलता, द्वेष, अमानवीयता, क्रूरता आदि भावों एवं वृत्तियों का संचार होता है।

मनुष्य ने वैज्ञानिक साधनों के द्वारा अपनी उत्पादन शक्ति में असीम वृद्धि की है। प्रत्येक राज्य-शासन के आंकड़े सूचना देते हैं कि वस्तुओं का उत्पादन बढ़ रहा है। इसके बावजूद समाज में अशांति क्यों है ? वास्तव में जब तक व्यक्ति का भोग की इच्छाओं पर नियन्त्रण नहीं होगा, तब तक पिपासा शान्त नहीं होगी। आधुनिक जीवन के सबसे महत्वपूर्ण मूल्य स्वतन्त्रता एवं समानता हैं। इन दोनों के लिए संयम आवश्यक है। जब व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण करता है, सामाजिक नियमों का पालन करता

है; दायित्व बोध की दृष्टि से जीवन व्यतीत करता है तभी उसके अधिकार तथा उसकी स्वतन्त्रता कायम रहते हैं।

इसी प्रकार जब व्यक्ति भौतिक वस्तुओं के परिग्रह का संयम करता है, तभी आर्थिक विषमताओं का अन्तर कम होता है तथा समाज के द्वारा उत्पादित वस्तुएँ प्रत्येक इकाई तक पहुँच पाती हैं। इस दृष्टि से अहिंसा का आधार अपरिग्रह है एवं अपरिग्रह का आधार संयम है।

VII. तप

इन्द्रिय सुखों के लिए व्यक्ति विषय-वासनाओं में लीन रहता है। आत्मा को भूल जाता है। अनात्मा को सब कुछ समझ बैठता है। पथ से भटक जाता है। लक्ष्य से दूर चला जाता है। मंजिल भूल जाता है। आत्म-चेतना राग-द्वेष से आवृत्ता हो जाती है।

तप द्वारा व्यक्ति उत्तरोत्तर विकास करता है, वृत्तियों का उत्तरोत्तर उदात्तीकरण करता है तथा उसका मन उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी बनता है।

"तप" के कई अर्थ हैं। सामान्य अर्थ में "तप" का अर्थ शरीर को कष्ट देना, शरीर को कृश करना तथा अनेक प्रकार की पीड़ाएँ सहन करना है। यह तप का शारीरिक अथवा बाह्य पक्ष है।

आत्मिक दृष्टि से "तप" दृढ़तापूर्वक की गयी कोई कृच्छ्र क्रिया या अनुष्ठान नहीं है, अपितु आत्मा के दोषों को निर्मूल करके उसे निर्मल बनाना है। इस दृष्टि से तप के अर्थ हैं- चमक, प्रज्वलन तथा परिष्कार। तप की आग में पूर्वबद्ध कर्मों का प्रज्वलन हो जाता है। आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में चमकती है। जिस प्रकार शकुनी नाम का पक्षी अपने परों को फड़फड़ाकर उन पर लगी हुई धूल को झाड़ देता है उसी प्रकार तपस्या के द्वारा मुमुक्षु अपने आत्म-प्रदेशों पर लगी हुई कर्मरज को दूर कर देता है।

"सत्य" से आत्मा के प्रकाश के सम्बन्ध में व्यक्ति की समझ, अनुभूति एवं ललक गहरी होती है। क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं शौच द्वारा वह आत्मा पर अनात्मा के बन्धनों के कारणों को दूर करता है। संयम के द्वारा साधक तैयारी करता है, मन को शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा में केन्द्रित करने की भूमिका बनाता है; तथा तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता है।

तप एवं संयम परस्पर पूरक हैं। नाव में जब तक बाहर से जल का प्रवेश होता रहता है, तब तक उसकी तली सूख नहीं सकती। संयम कर्मरस्रव रूपी जल के प्रवेश को रोकता है। नाव में जल के आगमन को रोक देने पर भी, उसकी तली को सुखाने के लिए पहले से विद्यमान जल को बाहर निकालना पड़ता है। इसके बाद सूर्य के ताप द्वारा उसकी तली सूख जाती है। बाह्य "तप" के द्वारा हम

शरीर को कृश करते हैं, परिषह सहन करते हैं, इन्द्रियों के सुखों का निवारण करते हैं तथा आभ्यन्तर तप की आग में कर्मों को जलाते हैं। आत्मा तपकर स्वर्ण की भाँति निखर उठती है।

"तप' ज्ञान एवं विवेक के साथ करना चाहिए। ज्ञान एवं विवेक से लक्ष्य का बोध होता है, मंजिल स्पष्ट होती है। "तप' द्वारा व्यक्ति उस मंजिल पर पहुँचता है। साधक की मंजिल आत्म-दर्शन है। साधक "तप' द्वारा करोड़ों जन्मों के संचित कर्मों को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार नाग अपनी केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार आत्मस्थ साधक अपनी कर्मरज रूप केंचुली को झाड़ कर अलग कर देता है। किसी वासना की तृप्ति, कामना की पूर्ति या किसी तृष्णा के लिए किया गया "तप' यथार्थ तप नहीं है। "तप' का उद्देश्य समस्त कामनाओं का संवरण कर तृष्णा का निरोध तथा वासनाओं का हवन करना है। इस कारण जो तप भौतिक सुखों की प्राप्ति हेतु किया जाता है, वह "कुतप' होता है।

"तप' का व्यक्ति की मानसिकता के साथ गहरा सम्बन्ध है। तप व्यक्ति की विचारधारा को प्रभावित करता है। तप व्यक्ति को भाग्यवादी नहीं बनाता, अपितु उसके पुरुषार्थ को जागृत करता है। तपस्वी-साधक अनुग्रह, अनुकम्पा तथा दया की भीख नहीं माँगता। वह अपने ही पुरुषार्थ के बल पर उच्चतम आध्यात्मिक विकास करता है। तप व्यक्ति को परावलम्बी नहीं बनाता, अपितु अपने पैरों के बल खड़ा होना सिखाता है।

"तप' द्वारा मन की गति बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी तथा अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी होती है। गीता में तप के तीन भेदों की चर्चा है। महर्षि पंतजलि ने योग अष्टांगों की विवेचना की है। जैन दर्शन में बाह्य तप के ६ भेद हैं तथा आभ्यन्तर तप के भी ६ भेद हैं। तप के अन्तर्गत ही ध्यान का अन्तर्भाव है। आध्यात्मिक साधना में "तप' का महत्त्व एवं क्षेत्र स्पष्ट है। कर्म-बंधन के प्रकरण में निर्जरा के संदर्भ में इसकी विवेचना की गई है। (दे० ३.६(११) निर्जरा)

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्ति के लिए साधना करनी पड़ती है। साधना की प्रत्येक विधि तपोमूलक होती है। तप के द्वारा भाग्य की पूर्वलिखित रेखाओं को भी मिटाया जा सकता है। सृष्टि का आधार तप है। इसी के कारण शेषनाग पृथ्वी को धारण करते हैं। पार्वती की तपस्या प्रसिद्ध है, जिन्होंने बेल की सूखी पत्तियाँ भी खाना छोड़ दिया, जिसके कारण उनका नाम अपर्णा पड़ा। बिना तपस्या और साधना के कुछ प्राप्त नहीं होता।

आधुनिक अस्तित्ववादी दर्शन भी यह मानता है कि व्यक्तित्व निर्माण के लिए स्वप्रयत्नों एवं कर्म का महत्त्व है। सार प्रकृति का निश्चित, आकारयुक्त, प्रयोजनशील निष्क्रिय तत्व है किन्तु अस्तित्व (Existence) चेतना सम्पन्न, क्रियाशील एवं अनिश्चित तत्व है, जो मनुष्य में परिलक्षित होता है। सृष्टि की यह चेतना सत्ता अपने चिन्तन एवं निर्णय के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है।

कला, साहित्य, राजनीति, विज्ञान प्रत्येक विषय-क्षेत्र में मूर्धन्य स्थान प्राप्त करने के लिए साधना अनिवार्य है। संगीतज्ञ अभ्यास करता है। वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में खो जाता है। ये लौकिक दृष्टि से तप के ही नामान्तर हैं।

इस प्रकार तप लौकिक दृष्टि से साधना में मन की एकाग्रता है, तो आध्यात्मिक दृष्टि से वह अग्नि है, जिसमें मन के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), वासनार्यें, कल्मषतार्यें जल जाती हैं तथा आत्मा का शुद्ध चैतन्य-स्वभाव प्रदीप्त हो उठता है।

VIII. त्याग

त्याग के आयाम बहुमुखी हैं। इसी कारण इसके अर्थ एवं भाव भी अनेक हैं। लौकिक दृष्टि से त्याग का प्रयोग किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी वस्तु का दान करने के सन्दर्भ में होता है। जब हम दान एवं त्याग के अर्थों में अन्तर करते हैं, तो दान बाह्य क्रिया का वाचक अधिक है, जबकि 'त्याग' में व्यक्ति की मानसिक स्थिति एवं आंतरिक प्रक्रिया पर बल है।

आध्यात्मिक दृष्टि से साधना की अवस्था में 'त्याग' का अर्थ भोगों का एवं परिग्रहों का त्याग है। सिद्धि की अवस्था में 'त्याग' आत्मा का स्वभाव है।

परद्रव्यों के प्रति ममत्व के त्याग के कारण साधक भोगों से उदासीन हो जाता है। इस दृष्टि से त्याग का अर्थ दान मूलक न होकर 'परित्यक्त मूलक' है। इस धरातल पर त्याग करनेवाला अपने पास से संचित वस्तु, पदार्थ, औषधि, ज्ञान का कुछ अंश दूसरों को दान में देकर ही सतुष्ट नहीं हो जाता, प्रत्युत वह लोभ, मोह आदि विकारों अर्थात् आभ्यन्तर-परिग्रहों का त्याग करता है। इस दृष्टि से तप की अग्नि में विकारों को जलाना 'त्याग' है। त्याग आत्मविजय की आभ्यन्तर क्रिया है। तप से आत्मप्रकाश ज्योतिषित होता है। त्याग से पर को छोड़ने की भावना उत्पन्न होती है। त्याग का सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिकता से है, जिससे उसका पर-द्रव्यों के प्रति मोह नहीं रह जाता। गीता में जिस 'निष्काम-कर्मयोग' का प्रतिपादन है, वह त्याग की इस अर्थवत्ता के निकट है। इसी कारण गीताकार ने कर्मों में होने वाली 'फलासक्ति' के त्याग को 'त्याग' माना है।

साधना की अवस्था में त्याग की अंतिम मंजिल आत्मदर्शन है। चेतना या आत्मा स्वभाव से त्याग स्वरूप है। वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों को अनात्मा मानता है। इस कारण जब साधक 'सिद्ध' होता है तो 'पर' का त्याग कर चुका होता है। इस स्थिति में 'त्याग' क्रिया नहीं रह जाती, स्वभाव बन जाता है। मोक्ष का अर्थ है - अकर्मा होना।

त्याग का विरोधी भाव लौकिक दृष्टि से वस्तुओं का संग्रह तथा आत्मिक दृष्टि से लोभ एवं मोह के कारण विकार-मूलक परिग्रहों के प्रति आसक्ति है।

इस जीवन में व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा भोगों को प्राप्त करना चाहता है। इस कारण वह भोग की सामग्रियों का संग्रह करता है। संग्रहवृत्ति के कारण उसके मन में वस्तुओं के प्रति आसक्ति बढ़ती है। इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती। इस कारण तृष्णा पैदा होती है। तृष्णा के अनुरूप जब वह वस्तुओं का संग्रह नहीं कर पाता तो असन्तोष एवं निराशा होती है। इस प्रकार त्याग की विरोधी स्थिति में तृष्णा, आसक्ति, असन्तोष एवं निराशा के भाव विकसित होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म-पुद्गलों के भार से लदा मानव आत्म-ज्योति की मंजिल तक पहुँचने में असमर्थ होता है। "पर" को ही अपना समझने के कारण उसमें आत्म-संकोच होता है। परिणामस्वरूप कषायों का निर्माण होता है। वह कर्म-बन्धन में बन्ध जाता है। (दे० ३.५)

त्याग के भाव की उत्पत्ति के लिए आत्मा एवं अनात्मा के भेद का ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान के कारण मन में पर-पदार्थों के प्रति वैराग्य भावना उत्पन्न होती है। पदार्थों के प्रति विरक्ति से त्याग भाव की उत्पत्ति होती है।

सामाजिक दृष्टि से त्याग की उत्पत्ति के लिए प्रेम, दया एवं करुणा का महत्व है। त्याग के विकास के लिए मन की उदात्ता एवं उदारता आवश्यक है। ऐसी स्थिति में किसी की पीड़ा को देखकर हृदय में करुणा एवं दया के भाव उत्पन्न होते हैं तथा हम धन से, वस्तु से, पदार्थ से, उसकी सहायता करते हैं। करुणा एवं दया के अतिरिक्त प्रेम सम्बन्धों में व्यक्ति अपने पास की वस्तु को अपने साथी को प्रदान करता है। उसके जीवन में उत्सर्ग की भावना विकसित होती है। प्रेम में हमारा आकर्षण वस्तु की अपेक्षा प्रिय से हो जाता है। उदाहरणार्थ, प्रसाद ने अपने एक पात्र से कहलवाया है- "प्रत्येक हृदय में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व अर्पण करने की भावना रखता है"।

त्याग-भाव के विकास में मार्दव, शौच एवं संयम सहायक होते हैं। मार्दव से व्यक्ति का अहंकार समाप्त होता है। उसकी दृष्टि व्यापक बनती है। आत्मतुल्यता की चेतना का विकास होता है।

शौच के कारण लोभ की प्रवृत्ति का अन्त हो जाता है तो त्याग की भावना का विकास होता है।

संयम द्वारा व्यक्ति जोड़ने की प्रवृत्ति को सीमित करता है। पदार्थों के प्रति आसक्ति भाव को नियंत्रित करता है। त्याग में वह अपने पास के पदार्थों को दूसरों को प्रदान करता है। संयम के द्वारा त्याग की भावना का विकास होता है तथा त्याग के कारण संयम की साधना बलवती एवं दृढ़ होती है।

तप एवं त्याग का गहरा सम्बन्ध है। तप में व्यक्ति पूर्व-संचित कर्मों का क्षय करता है। पर के प्रति आसक्ति ही कर्मों के आस्रव का मूल कारण है। जब तप के द्वारा आसक्तियों का अन्त होता है तो त्याग की भावना का परिपाक होता है। जब पर-पदार्थों के त्याग की भावना का संचार होता है तो उनके प्रति मन में आसक्ति के अंशों का नाश होता है।

तप की साधना में त्याग-भाव की इसी कारण प्रधानता है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से 'त्याग' तप की और 'आर्किञ्चन्य' त्याग की ऊर्ध्व मूलक स्थितियाँ हैं।

इस प्रकार 'त्याग' तप एवं आर्किञ्चन्य की मध्यस्थ भाव धारा है। तप के द्वारा राग-द्वेषों से शून्यता होती है। त्याग के द्वारा आत्मा अपरिग्रह से संवलित होती है। पूर्ण आर्किञ्चन्य की स्थिति में पहुँच कर तन, मन, धन किसी के प्रति कोई मोह शेष नहीं रह जाता।

त्याग एवं अपरिग्रह परस्पर पूरक हैं। अपरिग्रह में परिग्रह का निषेध है। त्याग में अपनी वस्तु को दूसरों को दान करने की सामाजिक चेतना भी है। व्यक्ति त्याग के द्वारा परिग्रह का नाश करता है एवं अपरिग्रह का पालन करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से त्याग अपरिग्रह तक पहुँचने का साधन है। त्याग से ही व्यक्ति में समाज के अन्य सदस्यों के लिए उत्सर्ग भाव का उदय होता है।

त्याग के पालन से आत्मदृष्टि का विकास होता है। वैराग्य, ममत्वहीनता, रागशून्यता एवं अपरिग्रह की वृत्तियाँ पनपती हैं। सामाजिक दृष्टि से त्याग से सामाजिक वृत्ति का उन्मेष होता है। तुलसी ने इसी भाव को धर्म माना है :

"परहित सरिस धरम नहीं भाई।"

इस दृष्टि से त्याग की विशिष्ट भूमिका है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, आर्किञ्चन्य एवं ब्रह्मचर्य, इन सबके द्वारा व्यक्ति आत्म-संशोधन एवं साक्षात् आत्म कल्याण करता है, अप्रत्यक्ष रूप में पर कल्याण का निमित्त भी बनता है, जबकि त्याग में प्रत्यक्ष रूप से दूसरों को देने की भावना निहित है। समभाव की साधना तभी विकसित हो सकती है जब व्यक्ति दूसरों को अपने जैसा समझता है। त्याग के द्वारा करुणा का विस्तार होता है। दूसरों जीवों को आत्मवत् समझने के कारण ही व्यक्ति हिंसा का त्याग कर देता है और अहिंसा का पालन करता है। वह यह मानता है कि प्राणी मात्र जीवित रहने की कामना रखते हैं। मुझे अपना जीवन प्रिय है, दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। मुझे दुःख अप्रिय है, दूसरों को भी दुःख अप्रिय है। इस प्रकार समभाव एवं आत्मतुल्यता की चेतना का विकास होने पर व्यक्ति अहिंसक होता है।

त्याग के पालन से व्यक्ति के जीवन में सन्तोष एवं शान्ति का पोषण होता है। दया एवं सेवा की भावना का विकास होता है। उसका चित्त उदार बनता है। सहिष्णुता की भावना विकसित होती है।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से त्याग की तीन प्रमुख कोटियाँ हैं :

१. अधम, २. मध्यम, ३. उत्तम।

जब कोई व्यक्ति किसी भय के द्वारा अथवा स्वार्थ की भावना के कारण अपनी वस्तु का त्याग करता है, तो वह अधम त्याग है।

एक व्यक्ति तस्करी का माल ला रहा है। उसे पता चलता है कि पुलिस के द्वारा उसकी तलाशी ली जाने वाली है। भय के कारण वह तस्करी के माल को अपने से अलग कर देता है या किसी दूसरे को दे देता है। इसमें वस्तु को अपने पास से अलग करने की अथवा दूसरे को दे देने की प्रक्रिया तो है, किन्तु यह कार्य उसने भय की भावना तथा पुलिस से अपने को बचाने के उद्देश्य से किया है। इस कारण यह अधम कोटि का त्याग है। इस प्रकार का त्याग नैतिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं रखता।

जब व्यक्ति किसी दूसरे के दुःख को देखकर विचलित हो जाता है तथा अपनी वस्तु का दान कर देता है तो इस प्रकार का त्याग मध्यम कोटि का है। इसमें व्यक्ति करुणा, प्रेम अथवा दया के भावों से प्रेरित होकर त्याग करता है।

जब मन की सहज भावना से प्रेरित होकर त्याग किया जाता है, तो वह उत्तम त्याग कहलाता है। इसमें त्याग करना जीवन का स्वभाव बन जाता है।

उत्तम त्याग में व्यक्ति अपनी कीर्ति, प्रशंसा एवं यश की कामना नहीं करता। इसीलिए यह कहा गया है "पूयण्टी जसोकाम, माण संमाण कामए। बहुं पसवई पावं माया सल्लं च कुव्वइ - "जो साधक पूजा-प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़ा है, यश का कामी है, मान-सम्मान का पिपासु है, वह अनेक प्रकार का दम्भ रचता हुआ बहुत पाप कर्म का संचय करता है।

मुनि जीवन में व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर चुका होता है। भौतिक पदार्थों को छोड़ने के बाद उसकी आध्यात्मिक साधना का आरम्भ होता है। इस धरातल पर त्याग के दो स्वरूप हैं :

(१) बाह्य त्याग (२) आभ्यंतर त्याग। साधक समय की अवधि

निर्धारित कर भोजन का त्याग करता है, भोजन की मात्रा घटाता है तथा भोजन में अनेक रसों का त्याग कर देता है। इसे कायिक बाह्य त्याग कहा जा सकता है। साधक असत्य वचन, तिरस्कारमय वचन, दूसरों को अप्रिय लगनेवाले वचन, कर्कश कठोर वचन, अविचारपूर्ण वचन, शांत हुए कलह को उद्बुद्ध करने वाले वचन- ऐसे सभी वचनों का परित्याग कर देता है। वाचालता को त्याग देता है। इसे वाचिक बाह्य त्याग कह सकते हैं।

आभ्यंतर त्याग में साधना के आरम्भ में व्यक्ति पहले लोभ, मोह आदि विकार मूलक परिग्रहों का परित्याग करता है। इसके बाद वह बाह्य ध्येयों से दृष्टि को हटाकर अन्त में शरीर से चेष्टाओं का त्याग, वाणी से वचनों का त्याग, तथा मन से चितवन का त्याग कर आत्मा में निरत हो जाता है।

त्याग का महत्व सभी धर्म एवं दर्शन परम्पराओं में मान्य है। दुखों का मूल इच्छा है। इच्छाओं का त्याग ही वास्तविक त्याग है। किसी ने इच्छा को तृष्णा, किसी ने माया, किसी ने वासना, किसी ने अज्ञान तथा किसी ने कर्म पुद्गलों के आस्रव का कारण माना है। बौद्ध दर्शन में भव चक्र की बाह्य श्रृंखलाओं में इच्छा को प्रथम माना गया है। योगियों ने उन्मनी भाव को आत्म-दर्शन का सर्वोच्च पथ माना है। उन्मनी भाव का अर्थ है मन या इच्छा का उन्मूलन। मन या इच्छा के विनाश से सृष्टि का विनाश होता है। इसलिए मन को ही

बन्धन और मुक्ति दोनों का हेतु माना गया है। मन का त्याग ही योगियों की दृष्टि में सबसे महान त्याग है। ईसा के वचन "अपना निषेध करो" (Deny Yourself) का भावार्थ "अहंकार" का ही त्याग है।

भक्ति साधना में भी त्याग को साधना का अनिवार्य अंग माना गया है। अभिमान, दंभ, सुख-दुख, इच्छा, लाभ-हानि, कामना आदि का त्याग साधना पथ में अनिवार्य है।

गीता में त्याग को "दैवी संपदा" कहा गया है। जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर ने भी स्वीकार किया है कि "इच्छाओं का त्याग ही सत्य का प्रवेश द्वार है"। यह तत्व दर्शन का वास्तविक मार्ग है। इसी कारण आध्यात्मिक साधना के समस्त सन्तों ने त्याग पर बहुत बल दिया है। सत्य के साधक को बार-बार बाहरी प्रभोलन अभिभूत करते हैं। इसी कारण सन्तों ने कामनाओं का सर्वथा त्याग करके मुक्ति पथ पर बढ़ने के लिए कहा है : "अब घर जालों तास का, जे चलै हमारे साथि"।

त्याग ही सृष्टि अथवा सम्पूर्ण सृजन का आधार है। प्रकृति का विधान त्याग पर ही आधारित है। सूर्य प्रकाश देता है, पुष्प सुगंध देते हैं, वृक्ष फल देते हैं, नदियाँ जल प्रदान करती हैं तथा पृथ्वी अन्न देती है। प्रकृति का त्याग निष्काम है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इसी को ध्यान में रखकर कहा है : "हे प्रभु, तुम इस विनाशशील पात्र को बार-बार खाली करते हो एवं पुनः नये-नये जीवन से भर देते हो।"

समाज विद्वान का आदर करता है, त्यागी की पूजा करता है। महावीर, बुद्ध, राम, सुकरात, ईसा की पूजा उनकी त्यागमयी साधना के कारण की जाती है।

त्याग से मानवीयता का विकास होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति को मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। उसके हृदय में दूसरों के लिए कोमल भावना का संचार होता है। स्वार्थ वृत्ति के स्थान पर परहित की भावना का विकास होता है। सामाजिक दृष्टि से त्याग वृत्ति के कारण अनेक सामाजिक कार्य सम्पन्न होते हैं। जब समाज के व्यक्तियों में त्याग की भावना रहती है तो समष्टिगत कल्याण की अनेक

योजनाएँ बिना राज्य शक्ति की सहायता से सम्पन्न हो जाती हैं। त्याग से आर्थिक विषमतायें कम होती हैं।

त्याग करते रहना आवश्यक है। यदि नदी संचय ही करती रहे तथा त्याग न करे तो उसका परिणाम क्या होगा? उसके तटों की सीमाएँ टूट जायेंगी। व्यक्ति संग्रह ही करता रहे तथा त्याग न करे तो उसका परिणाम क्या होगा। संयम एवं सन्तोष के तटों की सीमाएँ टूट जायेंगी। तृष्णा-वृत्ति बढ़ती जायेगी। उदारता एवं सहिष्णुता समाप्त हो जायेंगी। अतृप्ति के विकास से उसमें अनेक मानसिक कुंठाएँ उत्पन्न होंगी। समाज में आर्थिक वैषम्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जायेगा।

आधुनिक जीवन में त्याग का महत्व बहुत अधिक है। पहले के व्यक्ति और आज के व्यक्ति की विचारधारा में अन्तर है। पहले का व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन के अभावों को विगत जीवन के कर्मों का परिणाम मानकर सन्तुष्ट हो जाता था। आज का व्यक्ति इसी जीवन में साधनों के उपभोग की माँग कर रहा है। अब वह भाग्य के सहारे अभावों की जिन्दगी जीने के लिए तैयार नहीं है। वह समाज से अपनी सत्ता की स्वीकृति चाहता है, अस्तित्व के लिए साधनों की माँग कर रहा है। इस कारण आज आर्थिक विषमताओं को कम करना सामाजिक शान्ति एवं व्यवस्था की दृष्टि से आवश्यक है।

साधन-सम्पन्न व्यक्ति यदि त्याग वृत्ति के द्वारा यह कार्य सम्पन्न नहीं कर पायेंगे तो जो वर्ग साधनों से विहीन है, जिस वर्ग के पास रहने के लिए मकान नहीं है, खाने के लिए रोटी नहीं है, वह शान्त नहीं बना रह सकता। वह आज पुराने युग के आदमी की भाँति धैर्य धारण नहीं करेगा, विद्रोह करेगा। वह सामाजिक व्यवस्था को तोड़ने का प्रयास करेगा। हिंसा का सहारा लेगा। सामाजिक जीवन में सघर्ष बढ़ेगा।

अपने आप किसी वस्तु को देने से मन में सन्तोष होता है। दूसरों के द्वारा वस्तु को बलपूर्वक छीन लिए जाने से दुःख, आक्रोश, पीड़ा एवं अपमान होता है।

इस प्रकार त्याग व्यष्टिजन्य स्वार्थ को तिरोहित कर, आत्मज्योति को तो प्रदीप्त करता ही है, परार्थ की वृत्ति का उन्मेष कर, सामाजिक समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान भी प्रस्तुत करता है।

IX. अकिञ्चन्य

अकिञ्चन्य भाववाचक संज्ञा है। यह विशेषण 'अकिञ्चन' से व्युत्पन्न है। अकिञ्चन का अर्थ है "नास्ति किञ्चन यस्य"- जिसके पास कुछ भी न हो।

आध्यात्मिक साधना में जो सब कुछ छोड़ देता है वह अपने को पा लेता है। बड़ी चीज पाने के लिए छोटी चीज को खोना पड़ता है। जब किसी बड़ी चीज के प्रति आकर्षण हो जाता है, तो उससे छोटी

चीज के प्रति विकर्षण हो जाता है। एक आयु में बच्चों का आकर्षण खिलौनों से होता है। मानसिक विकास हो जाने पर जब उनका आकर्षण पुस्तकों से हो जाता है तो खिलौनों से विकर्षण हो जाता है। जो व्यक्ति सप्रयास विवेकपूर्ण साधना के द्वारा बाहर का सब कुछ खो देता है, वह पारमार्थिक दृष्टि से अपने भीतर सब कुछ पा लेता है।

आत्मा के साधक को क्या पाना है? उत्तर है- आत्मा। आत्मा चेतन है। आत्मा से व्यक्ति जानता है। जो जान नहीं पाता वह जड़ अनात्म है। पदार्थों का ज्ञान आत्मा को होता है, इन्द्रियों को नहीं। इन्द्रियाँ तो जानने की साधन हैं। चेतना के लुप्त होने पर इन्द्रियाँ नहीं जान पाती। शरीर छोड़ देने पर आत्मा में पूर्व में ज्ञात किये गये पदार्थों का स्मरण रहता है। यही कारण है कि तत्काल उत्पन्न शिशु अपनी माँ के स्तनों का पान करने लगता है। आत्मा अमूर्त है, शरीर मूर्त है। जानने की शक्ति से ही आत्मा की अनुभूति होती है। आत्मा से रहित शरीर में चेतना नहीं होती। "आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। इस प्रकार आत्मा अथवा चेतन तथा जड़ अनात्मा अथवा पुद्गल तात्त्विक दृष्टि से पृथक-पृथक हैं। व्यवहार से ही इनमें एकत्व है। इसका कारण यह है कि जीव अथवा आत्मा एवं पुद्गल द्रव्य का अनादिकालीन संयोग है।

संयोग के कारण इनमें विभाव रूप परिणमन होता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि मूर्त पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव को राग, द्वेष, मोह आदि विभाव-शक्ति-जन्य विकार होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का कर्ता स्वयं जीव है। जीव में ये कषाय मोह कर्म के निमित्त से प्रकट होते हैं। इस कारण ये जीव के निज स्वभाव नहीं हैं। इन्हीं भावों के द्वारा नवीनबंध होता है। ममत्व एवं मिथ्यात्व आदि भाव ही बंध के कारण हैं। इन्हीं भावों से आसक्ति उत्पन्न होती है। बाहरी वस्तुएँ एवं घटनायें सुख-दुःख का निमित्त मात्र होती हैं। मोह एवं आसक्ति के कारण हमें सुख-दुःख रूप भावों की प्रतीति एवं उनकी प्रबलता का बोध होता है। जो मोह एवं आसक्ति को छोड़ देते हैं, उन्हें हर्ष अथवा विषाद की स्थितियों में सुख-दुःख नहीं होता। जिसको मोह रहता है उसे कारण मिलने पर अथवा बिना कारण के भी केवल अपने संकल्प से सुख-दुःख का अनुभव होता रहता है। साथी का वियोग होने पर किसी को बहुत दुःख होता है, किसी को अपेक्षाकृत कम होता है तथा किसी को बिल्कुल नहीं होता।

व्यवहार से बंध एवं मोक्ष का हेतु अन्य पदार्थ को माना जाता है। यदि हम तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो यह जीव स्वयं बंध तथा मोक्ष दोनों का हेतु है। जीव के राग, द्वेष आदि परिणामों का निमित्त करके ही पुद्गल वर्णनायें कर्मरूप से परिणमन करती हैं। इस प्रकार जीव के राग आदि भावों को निमित्त करके ही कर्म आत्मा से बँधते हैं। कोई दूसरा हमें नहीं बाँधता अपितु हम स्वयं ही अपने किये गये भावों के अनुसार उपार्जित कर्मों से

बँधते हैं।

राग, द्वेष आदि विकारमूलक भावों का अन्त हो जाने पर कर्म-परमाणु रूप परद्रव्य का नवीन बंध नहीं होता। सूक्ष्म कर्म-परमाणु-समूह का आत्मा की ओर आगमन तो होता है, किन्तु वह आत्मा से बँध नहीं पाता। इस प्रकार शरीर में स्थित होने पर भी साधक शरीर के प्रति ममत्वभाव का त्याग कर सकता है, शरीर को आत्मा से भिन्न पदार्थ के रूप में जान सकता है, आत्म तत्व का साक्षात्कार कर सकता है। आध्यात्मिक साधक धन, सम्पत्ति, पुत्र, पत्नी, मित्र, इन्द्रिय भोगों तथा अंततः स्वयं अपने शरीर की आत्मा से भिन्नता समझता है तथा पर-द्रव्यों के प्रति ममत्व भाव का त्याग कर देता है। इसी कारण दर्शन के धरातल पर आर्किचन्य का अर्थ है- देहादि समस्त भौतिक पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग।

आर्किचन्य का विरोधीभाव वस्तुओं के प्रति आसक्ति, ममत्व एवं मन का अहंकार है। इनके कारण व्यक्ति की दृष्टि भौतिकवादी हो जाती है। वह अधिक से अधिक संग्रह करना चाहता है। परिग्रह के विस्तार से उसमें अहंकार एवं लोभ का विस्तार होता है। व्यक्ति संगृहीत वस्तुओं के कारण अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने लगता है। उसकी अहंकार वृत्ति के कारण समाज में भेदभाव की भावना विकसित होती है। व्यक्ति अपना मान-सम्मान चाहता है। प्रतिष्ठा की कामना अंकुरित होती है। परिग्रह के विस्तार के साथ साथ वह अपने को समाज का प्रतिष्ठित नागरिक मानने लगता है। प्रतिष्ठा की कामना से प्रमाद को प्रोत्साहन मिलता है। प्रमाद से संयम की नींव हिलने लगती है। यदि कामना के अनुरूप मान प्राप्त नहीं हो पाता, तो उसका मन क्षुब्ध हो जाता है। मन में क्रोध बढ़ता है, क्षमा वृत्ति पराजित हो जाती है।

सांसारिक दृष्टि से व्यक्ति सम्पन्न होना चाहता है। पदार्थों को जोड़ना चाहता है। इसका अर्थ है कि आध्यात्मिक दृष्टि से वह सब कुछ छोड़ना चाहता है। जब तक पदार्थों के प्रति अपनेपन का भाव रहता है, तब तक वह पर के प्रति अपनत्व की चेतना से रिक्त नहीं हो पाता। उसके जीवन-पात्र में आत्मज्योति अपने शुद्ध रूप में प्रकाशित नहीं हो सकती।

आर्किचन्य की स्थिति तक पहुँचने के लिए रागद्वेषशून्यता तथा ज्ञान की दृष्टि से सत्य, कर्म की दृष्टि से तप, तथा भावनाओं की दृष्टि से त्याग की आराधना आवश्यक है। यही कारण है कि आर्किचन्य को क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच तथा सत्य, संयम, तप एवं त्याग के बाद विवेचित किया गया है।

आर्किचन्य एवं अपरिग्रह परस्पर पूरक हैं। अपरिग्रह व्रत है। आर्किचन्य धर्म है। अपरिग्रह परिग्रह का निषेध है। वस्तु के प्रति ममत्वभाव परिग्रह है। जो साधक पर-पदार्थों के प्रति अपनी ममत्व बुद्धि का त्याग कर देता है, वही परिग्रह का त्याग करने में समर्थ हो सकता है। परिग्रह का निषेध कर, व्यक्ति अपरिग्रह-व्रत को पूरा करने के लिए आगे बढ़ता है। साधना की अवस्था में आर्किचन्य अपरिग्रह तक

पहुँचने का साधन है। सिद्धि की अवस्था में अपरिग्रह की स्थिति में आर्किञ्चन्य आत्मा का धर्म है, आत्मा का स्वभाव है।

आर्किञ्चन्य का अर्थ परिग्रह-शून्यता मात्र नहीं है, परिग्रह-शून्यता के मनोभाव की सहज स्वीकृति भी है। जब तक साधक के मन में किसी वस्तु के अपने पास होने का अहंकार विद्यमान रहता है अथवा वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा रहती है तब तक आर्किञ्चन्य का भाव नहीं आता। आर्किञ्चन्य आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का अंतर-आत्मा से त्याग करते हुए समस्त परिग्रहों से शून्य होने की सहज स्थिति है।

उपर्युक्त विवेचना के पश्चात् आर्किञ्चन्य शब्द से निम्नलिखित अर्थ प्रकट होते हैं :

- (१) वस्तु-अभाव-स्थिति।
- (२) परिग्रह-शून्यता।
- (३) किसी भी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा का अभाव।
- (४) परिग्रह-शून्य रहने की इच्छा एवं उसके लिए अभ्यास।
- (५) प्राप्त वस्तुओं के प्रति ममत्व का अभाव।
- (६) अहंकार, लोभ, तृष्णा, असन्तोष एवं ममत्व आदि का त्याग।
- (७) आत्मा एवं अनात्मा के भेद की प्रतीति। समस्त भौतिक पदार्थों का त्याग एवं अपने शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग।

सामाजिक जीवन में व्यक्ति यद्यपि आर्किञ्चन्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकता, तथापि आर्किञ्चन्य के चिंतन से पर पदार्थों के प्रति अपने आसक्तिभाव को अवश्य घटा सकता है। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु के अभाव से मानसिक पीड़ा नहीं होती। जीवन में सन्तोष का संचार होता है।

आसक्ति का अभाव का अर्थ किसी व्यक्ति के प्रति उपेक्षा, घृणा अथवा तिरस्कार नहीं है, अपितु सभी के प्रति प्रेम है। जब व्यक्ति किसी के प्रति आसक्त होता है, तो उसके मन में उसके प्रति राग होता है, उसके विरोधी के प्रति उसके मन में द्वेष होता है। जब व्यक्ति को आत्मा एवं अनात्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है, तो उसे संसार के समस्त प्राणियों की आत्माओं के प्रति आत्मतुल्यता का बोध होता है। अपनी शुद्ध आत्मा को जानकर वह सबको जान लेता है। आध्यात्मिक धरातल पर एक को जानने का अर्थ है, सबको जानना तथा सबके जानना भी अपने को ही जानना है। अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है किन्तु स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं। जब साधक का अपने शरीर से भी ममत्व छूट जाता है, तो उस स्थिति में उसकी दृष्टि विस्तृत से विस्तृततर हो जाती है, और उसे पता चलता है कि स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं। इसी कारण अनात्माओं से अनासक्ति एवं संसार के

सभी प्राणियों के प्रति आत्मतुल्यता का भाव होता है। संसार के सारे पदार्थों को छोड़कर, अपने आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से सभी प्राणियों के प्रति समभाव होता है। यह कर्मों का बंधन नहीं, संयम का सहज आचरण है। इसी कारण यह कहा गया है कि जो इस लोक में छोटे-बड़े सभी प्राणियों को आत्मतुल्य देखते हैं, षट्द्रव्यात्मक इस महान लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्त भाव से संयम में रत रहते हैं, वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं।

सामाजिक स्तर पर आर्किव्यन्य धर्म के पालन में राजा जनक का जीवन आदर्श स्वरूप है तथा लोक जीवन में गांधीवादी ट्रस्टीशिप की भावना।

X. ब्रह्मचर्य

विषय वासनाओं में लीन मनुष्य धर्म के तत्व को नहीं पहचान पाता। जो मनुष्य वासना के प्रवाह से दूर आत्म-रूप भागीरथी के तट पर नहीं पहुँचता, वह संसार के प्रवाह में बहता रहता है। काम-भोगों से कर्मों का बंधन होता है। काम-भोगों की लालसा रखनेवाली प्राणी कभी तृप्त नहीं हो पाते।

हमारा अहंकार काम वासना की अतृप्ति को बढ़ाता है। आत्मभाव के आने पर व्यक्ति निष्कपट हो जाता है। वह अपने से कुछ छिपाता नहीं है। ऐसे व्यक्ति की सभी विषय-वासनाएं आत्म चेतना के समक्ष आकर शान्त हो जाती हैं। वासनाओं की भूख बड़ी उत्कट है। देह-दमन के मार्ग से वासनाओं की भूख को नहीं मिटाया जा सकता। आत्मा की ओर झाँककर, अन्तश्चेतना की ओर अभिमुख होकर, अचेतन मन की खोज करके, प्रत्येक प्रकार के अंतर्द्वन्द्व को चेतना की सतह पर लाना आवश्यक है। वासना को दबाना नहीं, हटाना चाहिए। वासनाओं को दबाने से, वे आत्मा से और भी प्रगाढ़ रूप में बँध जाती हैं। जब तक वासनाएँ अचेतन मन के धरातल पर क्रियाशील रहती हैं तब तक कोई व्यक्ति, प्रयत्न करने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति अज्ञानी होता है। वह उस जन्मान्ध व्यक्ति के समान होता है जो छिद्रवाली नौका पर चढ़कर नदी के किनारे पहुँचना चाहता है, किन्तु किनारा आने के पूर्व ही नदी के बीच जल-प्रवाह में डूब जाता है। जब व्यक्ति अहंकार छोड़ देता है, तभी वह आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण कर पाता है। उस स्थिति में वह आत्मा के द्वारा आत्मा का नियन्त्रण करता है। जिस प्रकार पुरानी एवं सूखी लकड़ियों को आग शीघ्र जला देती है, उसी प्रकार आत्म-निष्ठ साधक चेतना के धरातल पर अचेतन मन की वासनाओं को संयम, तप एवं त्याग की अग्नि के द्वारा जला देता है।

काम-वासना पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है। सामान्य व्यक्ति अपने जीवन से काम और वासना को निर्मूल नहीं कर पाता। मुनि एवं तपस्वी उग्र ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं। गृहस्थ

यह व्रत नहीं ले पाता। इस कारण ब्रह्मचर्य को पारिभाषित करते समय उसके स्वरूप को अलग-अलग स्तरों पर समझना होगा।

गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्य का अर्थ परस्त्री का त्याग, अपनी पत्नी के द्वारा ही काम-वासना की संतुष्टि तथा कामभाव का संयमीकरण है।

अध्यात्म के स्तर पर ब्रह्मचर्य साधना का अंग भी है और सिद्धि की अवस्था भी। इस स्तर पर ब्रह्मचर्य शब्द से साधना के क्रमिक विकास के अनुरूप भिन्न अर्थ छायाओं का बोध होता है:

- (१) मैथुन के प्रति विरक्ति।
- (२) इन्द्रियों की चंचलता की निवृत्ति।
- (३) चित्ता की भ्रान्ति की निवृत्ति।
- (४) विषय-वासना आदि प्रवृत्तियों की इच्छा की निवृत्ति।

अध्यात्म की सिद्ध अवस्था में विशुद्ध चैतन्य का प्रकाशित होना ही ब्रह्मचर्य है। उस अवस्था में आत्म स्वरूप ब्रह्म में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है। विषय तथा विषयी का भेद हट जाने पर, जब आत्म ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, तब साधक अखण्ड महाव्रत ब्रह्मचर्य में स्थित रहता है।

ब्रह्मचर्य की विरोधी स्थितियाँ हैं : काम का उदय होना, काम की इच्छा होना, काम के प्रति आसक्ति होना, कामाचार, इन्द्रियों की चंचलता, चित्ता का विपेक्ष, तथा भौतिक सुखों को वास्तविक मानना। गृहस्थ की दृष्टि से परस्त्री के प्रति काम-प्रवृत्ति का उदय ब्रह्मचर्य अवस्था का पतन है। सामाजिक दृष्टि से विवाह के पूर्व ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिकता से है। यौवन काल के आने पर जब शरीर की अंतःस्रावी ग्रन्थियाँ क्रियाशील होती हैं, तो पुरुषों को स्वप्नदोष हो सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है। पुरुष स्त्री समागम के प्रति अनुरक्ति का भाव संयम को खण्डित कर देता है। इन्द्रियों की चंचलता आत्मा को विषय-वासना की ओर प्रवृत्ता करती है। चित्ता का विक्षेप कषायों का रूप धारण कर लेता है।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए शारीरिक दृष्टि से आहार का विवेक एवं मलशुद्धि आवश्यक है। विवाह पूर्व जीवन में ऐसे भोजन से बचना चाहिए जो गरिष्ठ हो तथा विषय वासनाओं को उभारने वाला हो। वासना पर संयम के लिए दैनिक जीवन में योग-साधनों का अभ्यास एवं ध्यान भी आवश्यक है। विवाह के पश्चात् भी व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी पाशविक वृत्तियों को संयमित करे। प्रेम केवल देह-कृत्य नहीं है। भावात्मक लगाव एवं आकर्षण से ही प्रेम सम्बन्धों में स्थायित्व आ सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य की साधना के लिए रागद्वेष का परिहार, आत्मा एवं अनात्मा की भेद-प्रतीति तथा अध्यात्म योग की ओर अभिमुख होकर अपने को विषयों से बचाने का उत्तरोत्तर प्रयत्न करना चाहिए। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य केवल शुक्रसंयम मात्र नहीं है, अपितु यह आत्मब्रह्म में संचरण की अनवरत साधना है।

सभी आत्मिक धर्मों एवं दर्शनों में ब्रह्मचर्य का महत्व निर्विवाद है। महाभारत के "सनत्सुजातपर्व" में ब्रह्मचर्य को चतुष्पाद कहा गया है। उसके विवेचन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य का जितना सम्बन्ध स्त्री समागम से विरति, बिन्दु साधन एवं मनोजय से है, उससे अधिक "ब्रह्म" की अनुभूति से है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पर-ममत्त्व के परिहार का विधान है।

योग परम्परा में "मरणं बिन्दु-पातेन" कहकर बिन्दु पतन को मृत्यु तथा "जीवनं बिन्दु-धारणात्" कहकर बिन्दु धारण को जीवन की संज्ञा दी गयी है। बिन्दु क्या है? गणित शास्त्र में जिस प्रकार वृत्ता एवं त्रिकोण आदि का केन्द्र बिन्दु कहलाता है, उसी प्रकार योग एवं तन्त्र सम्प्रदायों में शरीर अथवा कोषों के केन्द्र को बिन्दु कहते हैं। शरीर का सबसे सूक्ष्म एवं सार भाग बिन्दु है। बिन्दु से रहित शरीर का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। इसमें प्राण एवं मन के चिद् अणु विद्यमान हैं। यौगिक विधान से इन्हें ऊर्जा (विद्युत शक्ति) में परिवर्तित किया जा सकता है।

इससे अध्यात्म-शक्ति का पोषण होता है। आत्मा के साक्षात्कार के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की प्रथम साधना बिन्दु का परिपाक है, जिसके द्वारा योगी ब्रह्म में स्थित होता है।

अलग-अलग कोषों में उनके अलग-अलग केन्द्रों में अलग-अलग एक-एक बिन्दु होने का भी योग-सम्प्रदाय में विधान है। अग्निमय कोष का केन्द्र स्थूल बिन्दु है, जिसके आधार पर हमारा स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों के आधार पर सूक्ष्म शरीर गठित होता है। इनके भी कोषगत केन्द्रों में एक-एक बिन्दु है। इसके बाद आनन्दमय कोष है। इसके केन्द्र में जो बिन्दु है उसे "अमृत बिन्दु" कहते हैं। शरीर, प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियों की प्रत्येक क्रिया का पोषक तत्व बिन्दु ही है। इन समस्त क्रियाओं के साथ बिन्दु का क्षरण होता है। बिन्दु के क्षरण को रोके बिना न तो स्थिरता सम्भव है, और न ऊर्ध्व गति।

बिन्दु की दो दशाएँ हैं :

- (१) अधोगमन।
- (२) ऊर्ध्व गमन।

बिन्दु के अधोगमन से बिन्दु का स्थलन होता है। बिन्दु का ऊर्ध्वगमन जीव का ब्रह्म के साथ मिलन है। ब्रह्मचर्य की साधना में बिन्दु को प्रकाश रूप आत्मा के साथ एकीकृत करने का अभ्यास किया जाता है। इसके लिए पहले साधक स्थिर होता है। इंद्रिय मौन अर्थात् इंद्रिय निग्रह करता है। इस भूमिका पर योगी बिन्दु को स्थिर करते हैं। इसके बाद उसका शोधन करते हैं। वैदिक तथा तांत्रिक साधना में बिन्दु शोधन के अनेक उपाय वर्णित हैं।

पिण्ड में वर्तमान बिन्दु अपनी सूक्ष्म अवस्था में प्रकाश रूप है। ऊर्ध्वीकरण द्वारा बिन्दु को ऊर्जा में परिणत किया जाता है तथा परम ऊर्जा आत्मा में मिला दिया जाता है।

ब्रह्मरंध में निष्फल ब्रह्म के साथ एक रूप होकर बिन्दु ही ब्रह्म हो जाता है।

यह कार्य अत्यन्त कठिन एवं दुष्कर है। ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा बिन्दु को इंद्रिय विषयों के जगत से पृथक् करके तथा पवित्र बनाकर ब्रह्ममार्ग में लगाया जाता है, जिससे व्यक्ति को संसार से मुक्ति मिलती है।

योगसूत्र में ब्रह्मचारी की अवस्था का वर्णन प्रकारान्तर से श्रद्धा रूप में किया गया है। ब्रह्मचर्य पालन से संरक्षित वीर्य का संचय होने पर शरीर के अन्दर दिव्य-तेज अथवा दिव्य विद्युत ऊर्जा का विकास होता है। चित्ता की चंचलता नष्ट हो जाती है। प्राणों की गति स्थिर हो जाती है। ध्येय की ओर ध्याता के चित्ता का एकल प्रवाह उत्पन्न होता है। चित्ता के समाहित होने पर 'ध्येय' आवरण मुक्त होकर उज्ज्वल रूप में अपनी ज्योति से उद्भासित एवं ज्योतित हो उठता है।

इस प्रकार विषयवासनाओं में प्रवृत्ता इंद्रियों एवं मन को जो साधक ब्रह्मचर्य की आराधना के द्वारा आत्मा की ओर लगा लेता है, वह मुक्त हो जाता है। इसके बाद अन्य साधनों का महत्त्व नहीं रह जाता। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा- जैसे बड़े जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय की आवश्यकता नहीं रह जाती, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी के लिए सर्व वेद निष्प्रयोजन हो जाते हैं।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

मनोविज्ञान भी अब मानने लगा है कि मानस का क्षेत्र केवल मन तक ही सीमित नहीं है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भारतीय मनीषियों ने मन से अधिक सूक्ष्म प्रत्ययों का अविष्कार किया है। महर्षि अरविंद ने मनो चेतना के ऊर्ध्व रूप को 'अतिमानस' की संज्ञा दी है, मनोचेतना के विकास में मन के आधार से चेतना का ऊर्ध्व आरोहण सम्भव है। इंद्रियों की प्रवृत्तियों का उन्नयन या उदात्तीकरण ही ब्रह्मचर्य है। चेतना का ऊर्ध्व-आरोहण ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य है।

लोक जीवन में ब्रह्मचर्य के पालन के लिए किसी अतिमानवीय एवं महनीय आदर्श और संयम की आवश्यकता है। संयम के द्वारा व्यक्ति चेतन-मन के धरातल पर प्रवृत्तियों का आत्म नियन्त्रण कर व्यक्तित्व का विकास कर पाता है, इसके सम्बन्ध में विवेचना की जा चुकी है। जब मन का अहंकार नष्ट होने लगता है तभी हम दमित, उद्दाम काम वासना पहचान पाते हैं तथा संयम के द्वारा उसको नियंत्रित कर पाते हैं। स्वच्छंद, उन्मुक्त एवं संयम हीन कामाचरण से मनुष्य न तो अपना कल्याण कर सकता है और न समाज का।

जब तक व्यक्ति इंद्रियों पर नियन्त्रण नहीं कर पाता, तब तक सम्भोग के सुख को भी पूर्णतया के साथ नहीं भोग पाता। जब व्यक्ति प्रेम में एकनिष्ठता का आचरण नहीं करता, मधुकरीवृत्ति अपना लेता है तो वह मनुष्य से पशु के धरातल पर उतर आता है। मन की कोमल वृत्तियाँ तथा उसकी सौन्दर्य-चेतना नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह प्रेम सम्बन्धों के मानसिक तोष अर्थात् हार्दिक आनन्द का कभी भी अनुभव नहीं कर सकता।

सामाजिक व्यवस्था के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। जब आदिम मनुष्य जंगली जीवन जीता होगा, तब उन्मुक्त यौनाचार करता होगा। जीवन में कोई व्यवस्था न होगी। सुरक्षा की कोई भावना न होगी। परस्पर मिलजुलकर रहने की कोई आवश्यकता न होगी।

मानव सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ, जब मनुष्य समाज का निर्माण हुआ, लोगों ने मिलजुलकर रहना सीखा, अपने अस्तित्व और आवश्यकताओं के अनुरूप दूसरों के अस्तित्व एवं उनकी आवश्यकताओं का अनुभव व आदर करने लगे, तो परिवारों की रचना हुई और क्रमशः पति-पत्नी सम्बन्धों की स्थापना हुई तथा उनमें पवित्रता का भाव उत्पन्न हुआ।

पति द्वारा पत्नीत्व व्रत का पालन तथा पत्नी द्वारा पतिव्रत का पालन जहाँ दोनों के व्यक्तिगत जीवन में प्रेम, सन्तोष, विश्वास, अनुराग एवं आस्था की भावनाओं का निर्माण एवं विकास करता है, पारिवारिक जीवन में शान्ति, सद्भाव एवं परस्पर मिलजुलकर एकत्व की अनुभूति के साथ कार्य करने की भावनाओं का निर्माण करता है, वहीं सामाजिक जीवन की व्यवस्था को भी बनाये रखता है।

इस प्रकार एक ओर व्यक्तिगत जीवन में ब्रह्मचर्य जहाँ व्यक्ति के द्वारा नैतिक मूल्यों की स्वीकृति तथा अनेक मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान है वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक धरातल पर साधक का परमार्थ महाव्रत है, तथा सिद्धि की चरम परिणति है। जिस प्रकार दान के प्रकारों में अभयदान सर्वोपरि दान है, ध्यान के प्रकारों में शुक्ल ध्यान सर्वोपरि ध्यान है, ज्ञान के प्रकारों में सर्वज्ञ ज्ञान सर्वोपरि ज्ञान है उसी प्रकार गुण समूहों में ब्रह्मचर्य सर्वोपरि गुण है, आत्मा की महत्ताम निर्मलता है, साधक की आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठा है।

